ओ३म्

—०—

—×—

ओ३म्-अर्चा-अर्च्या

—०—

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रन्थमाला नं०–७

व्यवहारभानुः

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना

निर्मितं पठन-पाठन-व्यवस्थायां

तृतीयं पुस्तकम्

प्रकाशकः–
रामलाल कपूर ट्रस्ट
ग्रा० रेवली, पो० शाहपुर तुर्क,
जिला–सोनीपत–१३१०२१,

एकादश वार, २००० | आषाढ़, सं० २०६१ वि० जून, सन् २००४ | मूल्य ५.००

ट्रस्ट के उद्देश्य-

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, उसकी रक्षा तथा
प्रचार एवं भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा,
भारतीय विज्ञान और चिकित्सा
द्वारा जनता की सेवा।

'व्यवहारभानु का प्रकाशन'

दशम संस्करण तक	४५०००
एकादश संस्करण	२०००

इस संस्करण के प्रकाशन में आर्थिक सहयोगी

१. श्री ऋषिराज गुलाटी– नई दिल्ली (स्व० अचिन्त्य की पुण्य स्मृति में)	२१००.००
२. श्री पुनीत शास्त्री एवं श्रीमती नीलम– नई दिल्ली	२०००.००
३. श्री हरिप्रसाद शास्त्री– दिल्ली	११००.००
४. श्री हरवीर शास्त्री– दिल्ली	११००.००
५. श्री अशोक शास्त्री– दिल्ली	११००.००
६. श्री गणेश शास्त्री– दिल्ली	११००.००
७. श्री डॉ० राकेश कपूर– नई दिल्ली	१०००.००
८. श्री ओम्प्रकाश गुप्त– नई दिल्ली	५००.००

मुद्रक:-
राधा प्रेस
कैलाश नगर, दिल्ली

इस ग्रन्थ को बनाने का प्रयोजन

"जिस लिये सब मनुष्यों को सुशिक्षा से युक्त होना अवश्य है, इसलिये यह बालक से लेकर वृद्धपर्यन्त मनुष्यों के सुधार के अर्थ व्यवहार-सम्बन्धी शिक्षा का विधान किया जाता है।" (व्यव० पृष्ठ ३)

"इसलिये मैं मनुष्यों को उत्तम शिक्षा के अर्थ सब वेदादि शास्त्र और सत्याचारी विद्वानों की रीति [से] युक्त इस **'व्यवहारभानुः'** ग्रन्थ को बनाकर प्रकट करता हूँ, कि जिसको देख-दिखा, पढ़-पढ़ा कर मनुष्य अपने और अपने-अपने सन्तान तथा विद्यार्थियों का आचार अत्युत्तम करें, कि जिससे आप और वे सब दिन सुखी रहें।"

(भूमिका पृष्ठ १)

स्वामी दयानन्द सरस्वती

॥ओ३म्॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

कर्मशील महापुरुषों का स्वभाव बड़ा ही विचित्र होता है। वे जहाँ सूक्ष्म से सूक्ष्म आध्यात्मिक विषय में विवेचना करते हैं, तथा वेद और शास्त्रों के अत्यन्त छिपे रहस्यों को सर्वसाधारण जनता के कल्याणार्थ खोलते हैं, विज्ञान और दर्शनों के गहरे तत्त्व और फिलासफी का अपनी विमल मेधा द्वारा मनुष्यमात्र की हितभावना से सरल से सरल रीति से जिज्ञासुजनों को बोध कराते हैं, वहाँ वे कोमल-हृदय बालक- बालिकाओं के लिये भी अपने निर्मल आत्मा में अवश्य स्थान रखते हैं।

ऋषि दयानन्द ने जहाँ सहस्त्रों वर्षों से फैले घोर अन्धकार को दूर करने के लिये वेद तथा आर्ष ग्रन्थों के ज्ञान का प्रकाश सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदभाष्य, वेदाङ्गप्रकाशादि ग्रन्थों द्वारा किया, वहाँ उन्होंने सुकोमल-हृदय बालक-बालिकाओं तथा सर्वसाधारण के लिये भी-

बहुत ही छोटा सा पर परमोपयोगी ग्रन्थ

'व्यवहारभानुः' बनाया।

कहने को तो यह बच्चों के लिये पठन-पाठन व्यवस्था में तीसरा पुस्तक रचा। पर इसको पढ़ने से पता लगता है कि ऋषि लोग सरल शब्दों में कितना महान् विषय अपने अमृतरूपी वचनों में भर देते हैं। जिसकी एक-एक पंक्ति को सब वर्ण और आश्रमों वाले विद्वान् से विद्वान् और मूर्ख से मूर्ख स्त्री हो या पुरुष आबालवृद्ध प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वे किसी विचार के हों, पढ़कर परम लाभ उठा सकते हैं। जिधर से खाओ उधर से मीठा। व्यवहार की मृदुता और पवित्रता के लिये कोई भी उपयोगी आवश्यक बात इसमें छूट गई हो, ऐसा देखने

में नहीं आता।

यह ग्रन्थ फाल्गुन पूर्णिमा संवत् १९३६ को काशी में लिखकर पूर्ण किया गया था। यह इस पुस्तक की भूमिका के अन्त से विदित होता है।

महर्षि ने स्वयं इस ग्रन्थ के बनाने का प्रयोजन निम्न प्रकार लिखा है–

"जिस लिये सब मनुष्यों को सुशिक्षा से युक्त होना अवश्य है, इसलिये यह बालक से लेकर वृद्धपर्यन्त मनुष्यों के सुधार के अर्थ व्यवहार-सम्बन्धी शिक्षा का विधान किया जाता है।" (व्यव० पृष्ठ ३)

इस ग्रन्थ की भूमिका में निम्न प्रकार लिखा है–

"इसलिये मैं मनुष्यों को उत्तम शिक्षा के अर्थ सब वेदादि शास्त्र और सत्याचारी विद्वानों की रीति [से] युक्त इस **'व्यवहारभानुः'** ग्रन्थ को बनाकर प्रकट करता हूँ, कि जिसको देख-दिखा, पढ़-पढ़ा कर मनुष्य अपने और अपने-अपने सन्तान तथा विद्यार्थियों का आचार अत्युत्तम करें, कि जिससे आप और वे सब दिन सुखी रहें।"

(भूमिका पृष्ठ १)

सब विद्यालयों तथा पाठशालाओं की पढ़ाई में रखा जावे–

हमारी हर एक संस्था में, चाहे वह बालकों की हो या बालिकाओं की, यह 'व्यवहारभानु' पुस्तक अनिवार्यतया पढ़ाई में रखा जाना चाहिये, जिससे कि सुकोमल-हृदय बच्चे-बच्चियों के हृदय में धर्म, कर्त्तव्य-पालन का अंकुर आरम्भ से ही दृढ़ हो जावे। आशा है संस्थाओं के अधिकारी इस पर पूरा ध्यान देंगे, और अपने यहाँ पढ़ाई में इस पुस्तक को अवश्य रखेंगे।

ट्रस्ट की ओर से इस पुस्तक को लागत मूल्य पर छापने का लक्ष्य

यही है।[१]

इस संस्करण की विशेषताएँ

(१) इस ग्रन्थ में आये अनेक विषय महर्षि ने प्रसंगवश अन्य ग्रन्थों में भी लिखे हैं। उन सबके स्थान-निर्देश पते (शताब्दी-संस्करण से) टिप्पणी में कर दिये हैं।

(२) विषयवार कई-कई प्रकरणों को नये शीर्षक मोटे टाईप [ ] बड़े कोष्ठक में दिया गया है। तथा आवश्यक होने पर नये पैरे कर दिये गये हैं। जिससे पृथक् एक-एक विषय समझने में सुगमता हो जावे।

(३) सब विषयों की एक विस्तृत सूची आरम्भ में दे दी है।

(४) विराम (।) तथा अल्पविराम (,) भी दिये हैं। जिससे लम्बे-लम्बे वाक्य सरलता से समझ में आ जावें। आवश्यक परिवर्द्धित पदों को [ ] बड़े कोष्ठक में दे दिया है, जिससे वे पृथक् ही विदित रहें।

(५) ध्यान देने योग्य विशेष पदों को हमने मोटे टाईप में पृथक् कर दिया, जिससे विषय को समझने में सुविधा रहे।

आशा है भारतीय जनता, विशेषकर आर्यजनता इस परमोपयोगी ग्रन्थ का अधिक से अधिक प्रचार करेगी। भारतवर्ष के हर एक बालक-बालिका के हाथ में अमृत-वचन पहुँचने चाहियें। यही हमारी हार्दिक इच्छा है।

भवदीय–
हंसराज कपूर
मन्त्री– रामलाल कपूर ट्रस्ट,
(गुरु बाजार अमृतसर)

चैत्र
सं० २०१७ वि०

१. वर्त्तमान महंगाई की दृष्टि से आज भी लागत मूल्य पर ही दे रहे हैं।

विषय-सूची

भूमिका

मैंने इस संसार में परीक्षा करके निश्चय किया है कि जो धर्म-युक्त व्यवहार में ठीक-ठीक वर्त्तता है उसको सर्वत्र सुखलाभ, और जो विपरीत वर्त्तता है वह सदा दुःखी होकर अपनी हानि कर लेता है। देखिये सब कोई सभ्य मनुष्यों विद्वानों की सभा में, वा किसी के पास जाकर अपनी योग्यता के अनुसार नम्रतापूर्वक 'नमस्ते' आदि करके बैठके दूसरे की बात ध्यान से सुन, उसका सिद्धान्त जान, निरभिमानी होकर युक्त [उत्तर] प्रत्युत्तर करता है, तब सज्जन लोग प्रसन्न होकर उसका सत्कार, और जो अण्ड-बण्ड बकता है उसका तिरस्कार करते हैं।

जब मनुष्य धार्मिक होता है, तब उसका विश्वास और मान्य शत्रु भी करते हैं। और जब अधर्मी होता है, तब उसका विश्वास और मान्य मित्र भी नहीं करते। इससे जो थोड़ी विद्या वाला भी मनुष्य श्रेष्ठ शिक्षा पाकर सुशील होता है, उसका कोई भी कार्य नहीं बिगड़ता।

इसलिये मैं मनुष्यों को उत्तम शिक्षा के अर्थ सब वेदादि शास्त्र और सत्याचारी विद्वानों की रीति [से] युक्त इस **'व्यवहारभानुः'** ग्रन्थ को बनाकर प्रकट करता हूँ, कि जिसको देख-दिखा, पढ़-पढ़ा कर मनुष्य अपने और अपने-अपने सन्तान तथा विद्यार्थियों का आचार अत्युत्तम करें, कि जिससे आप और वे सब दिन सुखी रहें।

इस ग्रन्थ में कहीं-कहीं प्रमाण के लिये संस्कृत और सुगम भाषा लिखी, और अनेक उपयुक्त दृष्टान्त देकर सुधार का अभिप्राय प्रकाशित किया है, कि जिसको सब कोई सुख से समझ के अपना-अपना स्वभाव सुधार के सब उत्तम व्यवहारों को सिद्ध किया करें।

संवत् १९३६ — दयानन्द सरस्वती
फाल्गुन शुक्ला १५ — काशी

-: ओ३म् :-

व्यवहारभानुः

ऐसा किस मनुष्य का आत्मा होगा कि जो सुखों को सिद्ध करने वाले व्यवहारों को छोड़कर उलटा आचरण करने में प्रसन्न होता हो ? क्या यथायोग्य व्यवहार किये बिना किसी को सर्व सुख हो सकता है ? क्या मनुष्य अच्छी शिक्षा से धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष फलों को सिद्ध नहीं कर सकता, और इसके बिना पशु के समान होकर दुःखी नहीं रहता है ? जिस लिये सब मनुष्यों को सुशिक्षा से युक्त होना अवश्य है, इसलिये यह बालक से लेकर वृद्धपर्यन्त मनुष्यों के सुधार के अर्थ व्यवहार-सम्बन्धी शिक्षा का विधान किया जाता है।

[पण्डित के लक्षण]

(प्रश्न) कैसे पुरुष पढ़ाने और शिक्षा करने हारे होने चाहियें ?

(उत्तर)-पढ़ाने वालों के लक्षण-

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते।।१।।[१]

[महाभारत, उद्योगपर्व, विदुरप्रजागर, अ० ३३। श्लोक १५]

जिस को परमात्मा और जीव आत्मा का यथार्थ ज्ञान, जो आलस्य को छोड़कर सदा उद्योगी, सुख-दुःखादि का सहन, धर्म का

१. पण्डित के लक्षण वाले श्लोक 'सत्यार्थ-प्रकाश' समु० ४, पृष्ठ १५८ में व्याख्यात हैं। पण्डित का लक्षण आर्योद्देश्य० सं० ७१ में भी है।

सूचना- यहाँ तथा आगे सर्वत्र टिप्पणी में 'सत्यार्थप्रकाश' की पृष्ठसंख्या रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित आर्यसमाज शताब्दी सं० १ की दी है।

नित्य सेवन करने वाला हो, जिसको कोई पदार्थ धर्म से छुड़ाकर अधर्म की ओर न खींच सके, वह **'पण्डित'** कहाता है।।१।।

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम्।।२।।

[महा०, उद्यो०, विदु०, अ० ३३। श्लोक १६]

जो सदा प्रशस्त धर्मयुक्त कर्मों को करने, और निन्दित अधर्मयुक्त कर्मों को कभी न सेवने हारा, जो न कदापि ईश्वर, वेद और धर्म का विरोधी, और परमात्मा, सत्यविद्या और धर्म में दृढ़ विश्वासी है, वही मनुष्य **'पण्डित'** के लक्षण से युक्त होता है।।२।।

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य।।३।।

[महा०, उद्यो०, विदु०, अ० ३३। श्लोक २२]

जो वेदादि शास्त्र और दूसरे के कहे अभिप्राय को शीघ्र ही जानने, दीर्घकाल पर्यन्त वेदादि शास्त्र और धार्मिक विद्वानों के वचनों को ध्यान देकर सुनकर ठीक-ठीक समझ, निरभिमानी शान्त होकर दूसरों से [उत्तर] प्रत्युत्तर करने, परमेश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों को जानकर उनसे उपकार लेने में तन, मन, धन से प्रवृत्त होकर काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोकादि दुष्ट गुणों से पृथक् वर्त्तमान, किसी के पूछने वा दोनों के संवाद में विना प्रसंग के अयुक्त भाषणादि व्यवहार न करने वाला मनुष्य है, यही **'पण्डित'** की बुद्धिमत्ता का प्रथम लक्षण है।।३।।

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः।।४।।

[महा॰, उद्यो॰, विदु॰, अ॰ ३३। श्लोक २३]

जो मनुष्य प्राप्ति होने के अयोग्य पदार्थों की कभी इच्छा नहीं करते, अदृष्ट वा किसी पदार्थ के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर शोक करने की अभिलाषा नहीं करते, और बड़े-बड़े दुःखों से युक्त व्यवहार की प्राप्ति में भी मूढ़ होकर नहीं घबराते हैं, वे मनुष्य **'पण्डितों'** की बुद्धि से युक्त कहाते हैं।।४।।

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते।।५।।

[महा॰, उद्यो॰, विदु॰, अ॰ ३३। श्लोक २८]

जिसकी वाणी सब विद्याओं में चलने वाली, अत्यन्त अद्भुत विद्याओं की कथा करने, विना जाने पदार्थों की तर्क से शीघ्र जानने-जनाने, सुनी-विचारी विद्याओं को सदा उपस्थित रखने और जो सब विद्याओं के ग्रन्थों को अन्य मनुष्यों को शीघ्र पढ़ाने वाला मनुष्य है, वही **'पण्डित'** कहाता है।।५।।

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असंभिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः।।६।।

[महा॰, उद्यो॰, विदु॰, अ॰ ३३। श्लोक २९]

जिसकी सुनी हुई और पठित विद्या अपनी बुद्धि के सदा अनुकूल, और वृद्धि और क्रिया सुनी-पढ़ी हुई विद्याओं के अनुसार, जो धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों की मर्यादा का रक्षक, और दुष्ट डाकुओं की रीति को विदीर्ण करने हारा मनुष्य है, वही **'पण्डित'** नाम धराने के योग्य होता है।।६।।

जहाँ ऐसे-ऐसे सत्यपुरुष और बुद्धिमान् पढ़ाने वाले होते हैं, वहाँ

विद्या और धर्म की वृद्धि होकर सदा आनन्द ही बढ़ता जाता है। और जहाँ निम्नलिखित मूढ़ पढ़ने-पढ़ाने हारे होते हैं, वहाँ अविद्या और अधर्म की उन्नति होकर दु:ख ही बढ़ता जाता है।

(प्र०)- कैसे मनुष्य पढ़ाने और उपदेश करने वाले न होने चाहियें।

मूर्ख के लक्षण

(उ०)- अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः॥१॥[१]

जो किसी विद्या को न पढ़, और किसी विद्वान् का उपदेश न सुनकर बड़ा घमण्डी दरिद्र होकर [धन सम्बन्धी] बड़े-बड़े कामों की इच्छा वाला, और विना [कर्म] किये बड़े-बड़े फलों की इच्छा करने हारा है॥१॥

दृष्टान्त- जैसे एक दरिद्र शेखचिल्ली नामक किसी ग्राम में था। वहाँ किसी नगर का बनिया दश रुपये उधार लेके घी लेने आया था। वह घी लेकर घड़े में भरकर किसी मजूर की खोज में था। वहां शेखचिल्ली आ निकला। उससे पूछा कि इस घड़े को तीन कोस पर ले जाने की क्या मजूरी लेगा ? उसने कहा कि- 'आठ आने'। आगे बनिया ने कहा कि चार आने लेना हो तो ले। उसने कहा अच्छा। शेखचिल्ली घड़ा उठा आगे चला और बनिया पीछे-पीछे चलता हुआ मन में मनोरथ करने लगा कि दश रुपयों के घी के ग्यारह रुपये आवेंगे। दश रुपये सेठ को दूँगा, और एक रुपया घर की पूँजी रहेगी।

१. मूर्ख के लक्षण वाले श्लोक 'सत्यार्थ-प्रकाश' समु० ४, पृष्ठ १५९ में व्याख्यात हैं। मूर्ख के लक्षण आर्योद्देश्य०, सं० ७२ में भी हैं।

वैसे ही दश फेरे में दश रुपये हो जायेंगे। इसी प्रकार दश से सौ, सौ से सहस्र, सहस्र से लक्ष, लक्ष से करोड़। फिर सब जगह कोठियाँ करूँगा, और सब राजा लोग मेरे कर्जदार हो जायेंगे। इत्यादि बड़े-बड़े मनोरथ करने लगा।

और शेखचिल्ली ने विचारा कि चार आने की रूई ले सूत कातकर बेचूँगा, आठ आने मिलेंगे। फिर आठ आने से एक रुपया हो जायेगा। फिर वैसे ही एक से दो रुपये होंगे। उससे एक बकरी लूँगा। जब उसके बच्चे-कच्चे होंगे, तब उनको बेच एक गाय लूँगा। उसके कच्चे-बच्चे बेच एक भैंस लूँगा। उसके कच्चे-बच्चे बेच एक घोड़ी लूँगा। उसके कच्चे-बच्चे बेच एक हथिनी लूँगा। और उसके कच्चे-बच्चे बेच दो बीवियाँ ब्याहूँगा। एक नाम प्यारी, और दूसरी का नाम बेप्यारी रखूँगा। जब प्यारी के लड़के गोद में बैठने आयेंगे, तब कहूँगा बच्चो! आओ बैठो। जब बेप्यारी के लड़के आकर कहेंगे कि हम भी बैठें, तब कहूँगा— 'नहीं-नहीं'। ऐसा कहकर शिर हिला दिया। घड़ा गिर पड़ा, फूट गया, और घी भूमि पर फैलके धूली में मिल गया।

बनिया रोने लगा, और शेखचिल्ली भी रोने लगा। बनिये ने शेखचिल्ली को धमकाया कि घी क्यों गिरा दिया, और रोता क्यों है, तेरा क्या नुकसान हुआ (**शेखचिल्ली**) तेरा क्या बिगाड़ हुआ, तू क्यों रोता है ? (**बनिया**) मैंने दश रुपये उधार लेकर प्रथम ही घी खरीदा था। उस पर बड़े-बड़े लाभ का विचार किया था। वह मेरा सब बिगड़ गया। मैं क्यों न रोऊँ। (**शेखचिल्ली**) तेरी तो दश रुपये आदि की ही हानि हुई, मेरा तो घर ही बना-बनाया बिगड़ गया। (**बनिया**) क्या तेरे रोने से मेरा घी आ जायेगा ? (**शेखचिल्ली**) अच्छा तो तेरे रोने से मेरा

घर भी न बन जायेगा। तू बड़ा मूर्ख है। **(बनिया)** तू मूर्ख, तेरा बाप [मूर्ख]। दोनों आपस में एक-दूसरे को मारने लगे। फिर मार-पीटकर शेखचिल्ली अपने घर की ओर भाग गया। और बनिये ने धूली मिले हुये घ़ी को ठीकरे में उठाकर अपने घर की राह ली।

ऐसे ही स्वसामर्थ्य के विना अशक्य मनोरथ किया करना मूर्खों का काम है। और जो विना परिश्रम के पदार्थों की प्राप्ति में उत्साही होता है, उसी मनुष्य को विद्वान् लोग 'मूर्ख' कहते हैं।

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः।।२।।

[महा०, उद्यो०, विदु०, अ० ३३। श्लोक ३५]

जो बिना बुलाये जहाँ-तहाँ सभादि स्थानों में प्रवेश कर सत्कार, उच्चासन को चाहे, वा ऐसी रीति से बैठे कि सब सत्पुरुषों को उसका आचरण अप्रिय विदित हो। विना पूछे बहुत अण्ड-बण्ड बके, अविश्वासियों में विश्वासी होकर सुखों की हानि कर लेवे, वही मनुष्य **'मूढबुद्धि'** और मनुष्यों में नीच कहाता है।।२।।

जहाँ ऐसे-ऐसे मूढ मनुष्य पठन-पाठन आदि व्यवहारों को करने-कराने हारे होते हैं, वहाँ सुखों का तो दर्शन कहाँ, किन्तु दुःखों की भरमार तो हुआ ही करती है। इसलिये बुद्धिमान् लोग ऐसे-ऐसे मूढ़ों का प्रसंग वा इनके साथ पठन-पाठन क्रिया को व्यर्थ समझकर, पूर्वोक्त धार्मिक विद्वानों का प्रसंग, और उन ही से विद्या का अभ्यास और सुशील, बुद्धिमान् विद्यार्थियों ही को पढ़ाया करें।

ये विद्वान् और मूर्ख के लक्षण-विधायक श्लोक विदुर प्रजागर के ३३वें अध्याय में एक ही ठिकाने लिखे हैं।

जो विद्या पढ़ें और पढ़ावें, वे निम्नलिखित दोषयुक्त न हों—

विद्यार्थियों के दोष

आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च॥
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः।
सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम्[1]॥

[महा०, उद्यो०, विदु०, अ० ४०। श्लोक ५]

आलस्य, अभिमान, नशा करना [वा] मूढ़ता, चपलता, व्यर्थ इधर-उधर की अण्ड-बण्ड बातें करना, जडता= कभी पढ़ना कभी न पढ़ना, अभिमान और लोभ-लालच ये सात (७) विद्यार्थियों के लिये विद्या के विरोधी दोष हैं। क्योंकि जिसको सुख-चैन करने की इच्छा है, उसको विद्या कहाँ ? और जिसका चित्त विद्या-ग्रहण करने-कराने में लगा है, उसको विषय-सम्बन्धी सुख-चैन कहाँ ? इसलिये विषय-सुखार्थी विद्या को छोड़े, और विद्यार्थी विषय-सुख से अवश्य अलग रहे। नहीं तो परमधर्मरूप विद्या का पढ़ना-पढ़ाना कभी नहीं हो सकेगा।

ये श्लोक भी महाभारत विदुरप्रजागर अ० ४० में लिखे हैं।

ब्रह्मचर्य के गुण

(प्र०) कैसे-कैसे मनुष्य सब विद्याओं की प्राप्ति कर और करा सकते हैं ?

(उ०) **ब्रह्मचर्यस्य च गुणं शृणु त्वं वसुधाधिप।**
आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह॥१॥

१. ये श्लोक सत्यार्थ-प्रकाश समु० ४, पृष्ठ १६० पर व्याख्यात हैं।

न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप।
बह्व्यः कोट्यस्त्वृषीणां च ब्रह्मलोके वसन्त्युत॥२॥
सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम्।
ब्रह्मचर्यं दहेद् राजन् सर्वपापान्युपासितम्[१]॥३॥

भीष्म जी युधिष्ठिर से कहते हैं कि– हे राजन् ! तू ब्रह्मचर्य के गुण सुन। जो मनुष्य इस संसार में जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त ब्रह्मचारी होता है॥१॥

उसको कोई शुभ गुण अप्राप्त नहीं रहता, ऐसा तू जान कि जिस के प्रताप से अनेक करोड़ ऋषि ब्रह्मलोक अर्थात् सर्वानन्दस्वरूप परमात्मा में वास करते, और इस लोक में भी अनेक सुखों को प्राप्त होते हैं॥२॥

जो निरन्तर सत्य में रमण, जितेन्द्रिय, शान्तात्मा, उत्कृष्टशुभगुण स्वभावयुक्त, रोगरहित पराक्रमसहित शरीर, ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदादिसत्यशास्त्र और परमात्मा की उपासना का अभ्यास कर्मादि करते हैं, उनके वे सब उत्तम गुण बुरे काम और दुःखों को नष्ट कर सर्वोत्तम धर्मयुक्त कर्म और सब सुखों की प्राप्ति करने हारे होते हैं। और इन्हीं के सेवन से मनुष्य उत्तम अध्यापक और उत्तम विद्यार्थी हो सकते हैं॥३॥

(प्र०) 'शूरवीर' किनको कहते हैं ?

(उ०) वेदाऽध्ययनशूराश्च शूराश्चाऽध्ययने रताः।
गुरुशुश्रूषया शूराः पितृशुश्रूषयाऽपरे॥१॥
मातृशुश्रूषया शूरा भैक्ष्यशूरास्तथापरे।

१. द्र०– महाभारत अनु० पर्व अ० ७५ श्लोक ३४ उत्त० से ३७ पूर्वा० तक। अन्तिम श्लोक सत्यार्थ-प्रकाश समु० ४, पृ० १६१ पर व्याख्यात है।

अरण्यगृहवासे च शूराश्चाऽतिथिपूजने[१]।।२।।

जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने में शूरवीर, जो दुष्टों के दलन और श्रेष्ठों के पालन में शूरवीर, अर्थात् दृढोत्साही उद्योगी, जो निष्कपट परोपकारक अध्यापकों की सेवा करके शूरवीर, जो अपने जनक (=पिता) की सेवा करके **'शूरवीर'**।।१।।

जो माता की परिचर्या से शूर, जो संन्यासाश्रम से युक्त अतिथि रूप होकर सर्वत्र भ्रमण करके परोपकार करने में शूर, जो वानप्रस्थाश्रम के कर्म और जो गृहस्थाश्रम के व्यवहार में शूर होते हैं, वे ही सब सुखों के लाभ करने-कराने में अत्युत्तम होके धन्यवाद के पात्र होते हैं। कि जो अपना तन, मन, धन, विद्या और धर्मादि शुभ गुण ग्रहण करने में सदा उपयुक्त करते हैं।।२।।

(प्र०) **'शिक्षा'** किसको कहते हैं ?

(उ०) जिससे मनुष्य विद्यादि शुभगुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोड़के सदा आनन्दित हो सकें, वह **'शिक्षा'**[२] कहाती है।

(प्र०) **'विद्या'** और **'अविद्या'** किसको कहते हैं ?

(उ०) जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार लेके, अपने और दूसरों के लिये सब सुखों को सिद्ध कर सकें, वह **'विद्या'**[३]। और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवें, वह **'अविद्या'** कहाती है[४]।

(प्र०) मनुष्यों को विद्या की प्राप्ति और अविद्या के नाश के लिये क्या-क्या काम करने चाहियें ?

---

१. महा० अनु० पर्व अ० २५ उत्त० से २७ पूर्वा० तक। २. सत्यार्थ-प्रकाश स्वमन्तव्या० पृष्ठ ९२४। ३. आर्योद्देश्य० सं० १६। ४. वही,सं० १७।

(उ०) वर्णोच्चारण से लेकर वेदार्थ ज्ञान के लिये ब्रह्मचर्य आदि कर्म करना योग्य है।

(प्र०) **'ब्रह्मचारी'** किसको कहते हैं ?

(उ०) जो जितेन्द्रिय होके ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या के लिये, तथा आचार्य-कुल में जाकर विद्या-ग्रहण करने के लिये प्रयत्न करे, वह 'ब्रह्मचारी' कहाता है[1]।

(प्र०) **'आचार्य'** किसको कहते हैं ?

(उ०) जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षापूर्वक विद्या देने के लिये तन, मन और धन से प्रयत्न करे उसको 'आचार्य'[2] कहते हैं।

[बालकों को कैसी शिक्षा करें]

(प्र०) अपने सन्तानों के लिये माता-पिता और आचार्य क्या-क्या शिक्षा करें ?

(उ०) **'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद।'** शतपथब्राह्मण। अहोभाग्य उस मनुष्य का है कि जिसका जन्म धार्मिक विद्वान् माता-पिता और आचार्य के सम्बन्ध में हो। क्योंकि इन तीनों ही की शिक्षा से मनुष्य उत्तम होता है। ये अपने सन्तान और विद्यार्थियों को अच्छी भाषा बोलने, खाने-पीने, बैठने-उठने, वस्त्र धारण करने, माता-पिता का आदि का मान्य करने, उनके सामने यथेष्टाचारी न होने, विरुद्ध चेष्टा न करने आदि के लिये प्रयत्न नित्यप्रति उपदेश किया करें। और जैसा-जैसा उसका सामर्थ्य बढ़ता जाय, वैसी-वैसी उत्तम बातें सिखलाते जायें।

१. आर्योद्देश्य० सं० ४६। २. सत्यार्थ-प्रकाश स्वमन्तव्या० पृष्ठ ९२५; आर्योद्देश्य० सं० ६१; संस्कारविधि उपनयन प्रकरण टिप्पणी।

इसी प्रकार लड़के और लड़कियों की पाँच वा आठ वर्ष की अवस्थापर्यन्त माता-पिता और उसके उपरान्त आचार्य की शिक्षा होनी चाहिये[1]।

(प्र०) क्या जैसी चाहे वैसी शिक्षा करें ?

(उ०) नहीं, जो अपने पुत्र-पुत्री और विद्यार्थियों को सुनावें कि सुन मेरे बेटे-बिटिया और विद्यार्थी ! तेरा शीघ्र विवाह करेंगे। तू इसकी दाढ़ी, मूँछ पकड़ ले। इसकी जटा पकड़के ओढ़नी फेंक दे। धौल मार, गाली दे। इसका कपड़ा छीन ले, ओढ़नी व टोपी फेंक दे। खेल, कूद, हंस, रो। तुम्हारे विवाह में फुलवारी निकालेंगे, इत्यादि कुशिक्षा करते हैं, उनको माता-पिता और आचार्य न समझना चाहिये। किन्तु सन्तान और शिष्यों के पक्के शत्रु और दुःखदायक हैं। क्योंकि जो बुरी चेष्टा देखकर लड़कों को न घुड़कते और न दण्ड देते हैं, वे क्योंकर माता-पिता और आचार्य हो सकते हैं ? क्योंकि जो अपने सामने यथा-तथा बकने, निर्लज्ज होने, व्यर्थ चेष्टा करने आदि बुरे कर्मों से हटाकर विद्या आदि शुभ गुणों के लिये उपदेश नहीं करते, न तन, मन, धन लगा के उत्तम विद्या, व्यवहार का सेवन कराकर अपने सन्तानों को सदा श्रेष्ठ करते जाते हैं, वे माता-पिता और आचार्य कहा कर धन्यवाद के पात्र कभी नहीं हो सकते।

और जो अपने-अपने सन्तान और शिष्यों को ईश्वर की उपासना, धर्म-अधर्म, प्रमाण-प्रमेय, सत्य, मिथ्या, पाखण्ड, वेदशास्त्र आदि के लक्षण और उनके स्वरूप का यथावत् बोध करा, और सामर्थ्य के अनुकूल उनको वेदशास्त्रों के वचन भी कण्ठस्थ कराकर विद्या पढ़ने,

---

१. सत्यार्थ-प्रकाश समु० २।

आचार्य के अनुकूल रहने की रीति भी जना देवें, कि जिससे विद्या-प्राप्ति आदि प्रयोजन निर्विघ्न सिद्ध हों, वे ही माता-पिता और आचार्य कहाते हैं।

[विद्या-प्राप्ति के उपाय]

(प्र॰) विद्या किस-किस प्रकार और किन कर्मों से होती है ?

(उ॰) **'चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति'।**

महाभाष्य अ॰ १.१.१, आ॰ १॥

विद्या चार प्रकार से आती है– आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहारकाल। **'आगमकाल'** उसको कहते हैं कि जिससे मनुष्य पढ़ाने वाले से सावधान होकर ध्यान देके विद्यादि पदार्थ प्राप्त कर सकें। **'स्वाध्यायकाल'** उसको कहते हैं कि जो पठनसमय में आचार्य के मुख से शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की बातें प्रकाशित हों, उनको एकान्त में स्वस्थचित्त होकर पूर्वापर विचार के ठीक-ठीक हृदय में दृढ़ कर सकें। **'प्रवचनकाल'** उसको कहते हैं कि जिससे दूसरों को प्रीति से विद्याओं को पढ़ा सकना। **'व्यवहारकाल'** उसको कहते हैं कि जब अपने आत्मा में सत्यविद्या होती है, तब यह करना यह न करना, वही ठीक-ठीक सिद्ध होके वैसा ही आचरण करना हो सके, ये चार प्रकार हैं।

तथा अन्य भी **चार कर्म विद्याप्राप्ति के लिये हैं**– श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार। **'श्रवण'** उसको कहते हैं कि आत्मा मन के, और मन श्रोत्र इन्द्रिय के साथ यथावत् युक्त करके अध्यापक के मुख से जो-जो अर्थ और सम्बन्ध को प्रकाश करने हारे

शब्द निकलें, उनको श्रोत्र से मन, और मन से आत्मा में एकत्र करते जाना। **'मनन'** उसको कहते हैं कि जो-जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध आत्मा में एकत्र हुए हैं, उनका एकान्त में स्वस्थचित्त होकर विचार करना कि कौन शब्द किस अर्थ के साथ, और कौन अर्थ किस शब्द के साथ, और कौन सम्बन्ध किस-किस शब्द और अर्थ के साथ, सम्बन्ध अर्थात् मेल रखता, और उनके मेल में किस प्रयोजन की सिद्धि, और उलटे होने में क्या-क्या हानि होती है, इत्यादि। **'निदिध्यासन'** उसको कहते हैं कि जो-जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध सुने-विचारे हैं, वे ठीक-ठीक हैं वा नहीं, इस बात की विशेष परीक्षा करके दृढ़ निश्चय करना। और **'साक्षात्कार'** उसको कहते हैं कि जिन अर्थों के शब्द और सम्बन्ध सुने-विचारे और निश्चय किये हैं, उनको यथावत् ज्ञान और क्रिया से प्रत्यक्ष करके व्यवहारों की सिद्धि से अपना और पराया उपकार करना आदि विद्या की प्राप्ति के साधन हैं।

(प्र०) आचार्य के साथ विद्यार्थी कैसा-कैसा वर्त्ताव करें, और कैसा-कैसा न करें ?

(उ०) मिथ्या को छोड़के सत्य बोलें। सरल रहें, अभिमान न करें। आज्ञा पालन करें। स्तुति करें, निन्दा न करें। नीचे आसन पर बैठें, ऊँचे न बैठें। शान्त रहें, चपलता न करें। आचार्य की ताड़ना पर प्रसन्न रहें, क्रोध कभी न करें। जब कुछ वे पूछें, तो हाथ जोड़के नम्र होकर उत्तर देवें, घमण्ड से न बोलें। जब वे शिक्षा करें, चित्त देकर सुनें, ठट्ठे में न उड़ावें। शरीर और वस्त्र शुद्ध रक्खें, मैले कभी न रक्खें। जो कुछ प्रतिज्ञा करें, उसको पूरी करें। जितेन्द्रिय होवें, लम्पटपन, व्यभिचार कभी न करें।

उत्तमों का सदा मान करें, अपमान कभी न करें। उपकार मानके कृतज्ञ होवें। किसी के अनुपकारी होकर कृतघ्न न होवें। पुरुषार्थी रहें आलसी कभी न हों। जिस-जिस कर्म से विद्याप्राप्ति हो, उस-उस को करते जायें। जो-जो बुरे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक आदि विद्याविरोधी हों, उनको छोड़कर सदा उत्तम गुणों की कामना करें। बुरे कर्मों पर क्रोध, विद्याग्रहण में लोभ, सज्जनों में मोह, बुरे कर्मों से भय, अच्छे काम न होने में शोक करके विद्यादि शुभगुणों से आत्मा और वीर्य आदि धातुओं की रक्षा से जितेन्द्रिय हो शरीर का बल सदा बढ़ाते जायें।

(प्र॰) आचार्य विद्यार्थियों को कैसे वर्त्तें ?

(उ॰) जिस प्रकार से विद्यार्थी विद्वान्, सुशील, निरभिमानी, सत्यवादी, धर्मात्मा, आस्तिक, निरालस्य, उद्योगी, परोपकारी, वीर, धीर, गम्भीर, पवित्राचरण, शान्तियुक्त, दमनशील, जितेन्द्रिय, ऋजु, प्रसन्नवदन होकर माता-पिता, आचार्य, अतिथि, बन्धु, मित्र, राजा आदि के प्रियकारी हों। जब किसी से बातचीत करें, तब जो-जो उनके मुख से अक्षर, पद, वाक्य निकलें, उनको शान्त होकर सुनके प्रत्युत्तर देवें।

जब कभी कोई बुरी चेष्टा, मलिनता, मैले वस्त्रधारण, बैठने-उठने में विपरीताचरण, निन्दा, ईर्ष्या, द्रोह, विवाद, लड़ाई-बखेड़ा, चुगली किसी पर मिथ्या दोष लगाना, चोरी-जारी अनभ्यास, आलस्य, अतिनिद्रा, अतिभोजन, अतिजागरण, व्यर्थ खेलना, इधर-उधर अट्ट-सट्ट मारना, विषयसेवन, बुरे व्यवहारों की कथा करना वा सुनना, दुष्टों के संग बैठना आदि दुष्ट व्यवहार करें तो उनको यथापराध कठिन दण्ड देवें।

इसमें प्रमाण–

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः[१]॥

महाभाष्य अ॰ ८, पा॰ १, सू॰ ८॥

आचार्य लोग अपने विद्यार्थियों को विद्या और सुशिक्षा होने के लिये प्रेमभाव से अपने हाथों से ताड़ना करते हैं। क्योंकि सन्तान और विद्यार्थियों का जितना लालन करना है, उतना ही उनके लिये बिगाड़ और जितनी ताड़ना करनी है उतना ही उनका लिये सुधार है। परन्तु ऐसी ताड़ना न करे कि जिससे अंग-भंग वा मर्म में लगने से विद्यार्थी वा लड़के-लड़की लोग व्यथा को प्राप्त हो जायें।

[हुड़दङ्गा और सज्जन का संवाद]

(प्र॰) 'पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं न पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम्[२] ?'

हुड़दङ्गोवाच– हुड़दङ्गा कहता है कि जो पढ़ता है वह भी मरता है, और जो नहीं पढ़ता वह भी मरता है। फिर पढ़ने-पढ़ाने में दांत कटाकट क्यों करना ?

(उ॰) न विद्यया विना सौख्यं नराणां जायते ध्रुवम्।
अतो धर्मार्थमोक्षेभ्यो विद्याभ्यासं समाचरेत्॥

सज्जन उवाच– सज्जन कहता है कि सुन भाई हुड़दङ्गे ! तू जो जानता है, सो विद्या का फल नहीं कि विद्या के पढ़ने से जन्म-मरण, आँख से देखना, कान से सुनना आदि ये ईश्वरीय नियम अन्यथा हो जायें। किन्तु विद्या से यथार्थ ज्ञान होकर यथायोग्य व्यवहार करने-कराने

---

१. यह श्लोक सत्यार्थ-प्रकाश समु॰ २ पृ॰ ५३ पर भी व्याख्यात है। २. यह वाक्य सत्यार्थ-प्रकाश समु॰ ११ पृ॰ ५३७ पर भी व्याख्यात है।

से आप और दूसरों को आनन्दित करना विद्या का फल है। क्योंकि विना विद्या के किसी मनुष्य को निश्चल सुख नहीं हो सकता। क्या भय किसी को क्षणभर सुख हुआ, [वह] न हुआ सा है। किसी का सामर्थ्य नहीं है कि जो अविद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप को यथावत् जानकर सिद्ध कर सके इसलिये सब को उचित है कि इनकी सिद्धि के लिये विद्या का अभ्यास तन-मन-धन से किया और कराया करें।

(हुड़दंगा)- हम देखते हैं कि बहुत से मनुष्य विद्या पढ़े हुए दरिद्र और भीख मांगते, तथा विना पढ़े हुए राज्य धन का आनन्द भोगते हैं।

(सज्जन)- सुनो प्रिय ! सुख-दुःख का योग आत्मा में हुआ करता है। जहाँ विद्यारूप सूर्य का अभाव और अविद्यान्धकार का भाव है, वहाँ दुःखों की तो भरमार, सुख की कथा ही क्या कहनी है ? और जहाँ विद्यार्क प्रकाशित होकर अविद्यान्धकार को नष्ट कर देता है, उस आत्मा में सदा आनन्द का योग और दुःख को ठिकाना भी नहीं मिलता है। हुड़दंगा सिर धुनकर चुप हो गया।

(प्र०) आचार्य किस रीति से विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करावें और विद्यार्थी लोग करें ?

(उ०) आचार्य समाहित होकर ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा करें कि जिससे उसके आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ होकर उत्साह ही बढ़ता जाये। ऐसी चेष्टा वा कर्म कभी न करें कि जिसको देख वा करके विद्यार्थी अधर्मयुक्त हो जावें। दृष्टान्त, हस्तक्रिया, यन्त्र, कला-कौशल, विचार आदि से विद्यार्थियों के आत्मा में पदार्थ इस प्रकार साक्षात् करावें

कि एक के जानने से हजारों पदार्थ यथावत् जानते जायें।

अपने आत्मा में इस बात का ध्यान रखें कि जिस-जिस प्रकार संसार में विद्या धर्माचरण की बढ़ती, और मेरे पढ़ाये मनुष्य अविद्वान् और कुशिक्षित होकर मेरी निन्दा के कारण न हो जायें कि मैं ही विद्या के रोकने और अविद्या की वृद्धि का निमित्त गिना जाऊँ। ऐसा न हो कि सर्वात्मा परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव से मेरे गुण-कर्म-स्वभाव विरुद्ध होने से मुझको महादुःख भोगना पड़े। धन्य वे मनुष्य हैं जो अपने आत्मा के समान सुख में सुख और दुःख में दुःख अन्य मनुष्यों का जानकर धार्मिकता को कदापि नहीं छोड़ते। इत्यादि उत्तम व्यवहार आचार्य लोग नित्य करते जायें।

विद्यार्थी लोग भी जिन कर्मों से आचार्य की प्रसन्नता होती जाय, वैसे कर्म करें। जिससे उसका आत्मा सन्तुष्ट होकर चाहे कि ये लोग विद्या से युक्त होकर सदा प्रसन्न रहें। रात-दिन विद्या ही के विचार में लगकर एक-दूसरे के साथ प्रेम से परस्पर विद्या को पढ़ते-पढ़ाते जावें। जहाँ विषय वा अधर्म की चर्चा भी होती हो, वहाँ कभी खड़ें भी न रहें। जहाँ-जहाँ विद्यादि व्यवहार और धर्म का व्याख्यान होता हो, वहाँ से अलग कभी न रहें।

भोजन-छादन ऐसी रीति से करें कि जिससे कभी रोग वीर्यहानि वा प्रमाद न बढ़ें। जो बुद्धि के नाश करने हारे नशा के पदार्थ हों, उनको ग्रहण कभी न करें। किन्तु जो-जो ज्ञान बढ़ाने और रोगनाश करने हारे पदार्थ हों, उन्हीं का सेवन सदा किया करें। नित्यप्रति परमेश्वर का ध्यान, योगाभ्यास, बुद्धि का बढ़ाना, सत्यधर्म की निष्ठा और अधर्म का सर्वथा त्याग करते रहें। जो-जो पढ़ने में विघ्नरूप कर्म हों, उनको

छोड़कर पूर्ण विद्या को प्राप्त करें। इत्यादि दोनों के गुण-कर्म हैं।

[सत्य और असत्य की परीक्षा के उपाय]

(प्र०) सत्य और असत्य का निश्चय किस प्रकार से होता है? क्योंकि जिसको एक सत्य कहता है, दूसरा उसी को मिथ्या बतलाता है। उसका निर्णय करने में क्या-क्या निश्चित साधन हैं?

(उ०) **पाँच हैं**[१]। उनमें से **प्रथम**– ईश्वर, उसके गुण-कर्म-स्वभाव और वेदविद्या। **दूसरा**– सृष्टिक्रम। **तीसरा**– प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण। **चौथा**– आप्तों का आचार, उपदेश, ग्रन्थ और सिद्धान्त। और **पाँचवाँ**– अपने आत्मा की साक्षी, अनुकूलता, जिज्ञासुता, पवित्रता और विज्ञान।

ईश्वरादि से परीक्षा करना उसको कहते हैं कि जो-जो ईश्वर के न्याय आदि गुण, पक्षपातरहित सृष्टि बनाने का कर्म और सत्य, न्याय, दयालुता, परोपकारता आदि स्वभाव और वेदोपदेश से सत्य और धर्म ठहरे वही सत्य और धर्म। और जो-जो असत्य और अधर्म ठहरे, वही असत्य और अधर्म। जैसे कोई कहे कि विना कारण और कर्त्ता के कार्य होता है, सो सर्वथा मिथ्या जानना। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सृष्टि की रचना करने हारा पदार्थ है वही ईश्वर और उसके गुण-कर्म-स्वभाव, वेद और सृष्टिक्रम से ही निश्चित जाने जाते हैं।

दूसरा सृष्टिक्रम उसको कहते हैं कि जो-जो सृष्टिक्रम अर्थात् सृष्टि के गुण, कर्म और स्वभाव से विरुद्ध हो वह मिथ्या और अनुकूल हो वह सत्य कहाता है। जैसे कोई कहे कि विना माँ-बाप के लड़का[२], कान से देखना, आँख से बोलना आदि होता वा हुआ है, ऐसी-ऐसी

१. ये पाँच साधन सत्यार्थ-प्रकाश समु० ३ पृ० ८०-८१; स्वमन्तव्या० सं० ३९ पृष्ठ ९२६; आर्योद्देश्य० सं० ८२ में भी लिखे हैं। २. यह नियम मैथुनी सृष्टि का है।

बातें सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से मिथ्या। और माता-पिता से सन्तान, कान से सुनना और आँख से देखना आदि सृष्टिक्रम के अनुकूल होने से सत्य ही हैं।

तीसरा प्रत्यक्ष आदि आठ प्रमाणों से परीक्षा करना उसको कहते हैं कि ज़ो-जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ठीक-ठीक ठहरे वह सत्य, और जो-जो विरुद्ध ठहरे वह मिथ्या समझना चाहिये। जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह क्या है ? दूसरे ने कहा कि पृथिवी, यह **'प्रत्यक्ष'**। इसको देखकर इसके कारण का निश्चय करना यह **'अनुमान'**। जैसे विना बनाने हारे के घर नहीं बन सकता, वैसे ही सृष्टि का बनाने हारा ईश्वर भी बड़ा कारीगर है, यह दृष्टान्त **'उपमान'**। और सत्योपदेष्टाओं का उपदेश वह **'शब्द'**। भूतकालस्थ पुरुषों की चेष्टा, सृष्टि आदि पदार्थों की कथा आदि को **'ऐतिह्य'**। एक बात को सुनकर विना सुने-कहे प्रसंग से दूसरी बात को जान लेना यह **'अर्थापत्ति'**। कारण से कार्य होना आदि को **'सम्भव'** और आठवाँ **'अभाव'** अर्थात् किसी ने किसी से कहा कि [तू] जल ले आ। उसने वहाँ जल के अभाव को जानकर तर्क से जाना कि जहाँ जल है वहाँ से लाकर देना चाहिये। यह अभाव प्रमाण कहाता है। इन-इन आठ प्रमाणों[1] से जो-जो विपरीत न हो वह-वह सत्य, और जो-जो उलटा हो वह-वह मिथ्या है।

आप्तों के आचार और सिद्धान्त से परीक्षा करना उसको कहते हैं कि जो-जो सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, पक्षपातरहित सब के हितैषी विद्वान् सब के सुख के लिये प्रयत्न करें, वे धार्मिक लोग

---

१. इन आठ प्रमाणों के लक्षण सत्यार्थप्रकाश समु॰ ३, पृष्ठ ८१-८४; आर्योद्देश्य॰ सं॰ ८३-८९ में भी हैं।

'आप्त' कहाते हैं। उनके उपदेश, आचार, ग्रन्थ और सिद्धान्त से ज
युक्त हो वह सत्य, और जो विपरीत हो वह मिथ्या है।

आत्मा से परीक्षा उसको कहते हैं कि जो-जो अपना आत्म
अपने लिये चाहे, सो-सो सबके लिये चाहना। और जो-जो न चा
सो-सो किसी के लिये न चाहना। जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैस
मन में वैसा क्रिया में होने को जानने-जनाने की इच्छा, शुद्धभाव औ
विद्या के नेत्र से देखकर सत्य और असत्य का निश्चय करना चाहिये

इन पाँच प्रकार की परीक्षाओं से पढ़ने और पढ़ाने हारे तथा स
मनुष्य सत्यासत्य का निर्णय करके धर्म का ग्रहण और अधर्म क
परित्याग करें और करावें।

(प्र॰) **'धर्म'** और **'अधर्म'** किसको कहते हैं ?

(उ॰) जो पक्षपातरहित न्याय सत्य का ग्रहण, असत्य क
परित्याग, पाँचों परीक्षाओं के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञा का पालन
परोपकार करना रूप **'धर्म'**[१] और जो इसके विपरीत वह **'अधर्म'**
कहाता है। क्योंकि जो सबके अविरुद्ध वह **'धर्म'**, और जो परस्प
विरुद्धाचरण है सो **'अधर्म'** क्योंकर न कहायेगा ?

देखो किसी ने किसी से पूछा कि सत्य क्या है ? उसको उस
उत्तर दिया– जो मैं मानता हूँ। फिर उसने पूछा– और जो वह मानत
है, वा जो मैं जानता हूँ वह क्या ? उसने कहा कि अधर्म है। यह
पक्षपात से मिथ्या और विरुद्धाचार **'अधर्म'** और जब तीसरे ने दोनों
पूछा कि 'सत्य बोलना धर्म अथवा असत्य' ? तब दोनों ने उत्तर दिय
कि 'सत्य बोलना **धर्म** और असत्य बोलना **अधर्म**' है। इसी का नाम

१. आर्योद्देश्य॰ सं॰ २। २. वही, सं॰ ३।

धर्म जानो। परन्तु यहाँ पाँच [प्रकार की] परीक्षा की युक्ति से सत्य और असत्य का निश्चय करना योग्य है।

(प्र०) जब-जब सभा आदि व्यवहारों में जावे, तब कैसे-कैसे वर्त्ते ?

(उ०) जब सभा में जावे, तब दृढ़ निश्चय कर लेवे कि मैं सत्य को जिताऊँगा, और असत्य को हराऊँगा। अभिमान न रक्खे, अपने को बड़ा न माने। अपनी बात का कोई खण्डन करे, तो उस पर क्रुद्ध वा अप्रसन्न न हो। जो कोई कहे, उसके वचन को ध्यान देकर सुनके जो उसमें कुछ असत्य भान हो, तो उस अंश का खण्डन अवश्य करे। और जो सत्य हो तो प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करे, बड़ाई-छोटाई न गिने। व्यर्थ बकवाद न करे। कभी मिथ्या का पक्ष न करे, और सत्य को कदापि न छोड़े।

ऐसी रीति से बैठे वा उठे कि जिससे किसी को बुरा विदित न हो। सर्वहित पर दृष्टि रक्खे। जिससे सत्य की बढ़ती और असत्य का नाश हो, उसको करे। सज्जनों का संग करे और दुष्टों से अलग रहे। जो-जो प्रतिज्ञा करे, वह-वह सत्य के विरुद्ध न हो, और उसको सर्वदा यथावत् पूरी करे। इत्यादि कर्म वा सब सभा आदि व्यवहारों में करें।

(प्र०) **'जड़बुद्धि'** और **'तीव्रबुद्धि'** किसको कहते हैं ?

(उ०) जो आप तो समझ ही न सके, परन्तु दूसरे के समझाने से भी न समझे, वह **'जड़बुद्धि'**। और समझाने से झटपट समझे, और थोड़े ही समझाने में बहुत समझ जावे, वह **'तीव्रबुद्धि'** कहाता है। यहाँ महाजड़ और विद्वान् का दृष्टान्त सुनो—

दृष्टान्त[१]– कहीं एक रामदास वैरागी का चेला गोपालदास पा
करता-करता कुएं पर पानी भरने को गया। वहाँ एक पण्डित बैठा
उसने अशुद्ध पाठ सुनकर कहा कि– तू **'स्त्री गनेसाय नम'** ऐ
घोखता है, सो शुद्ध नहीं है। किन्तु **'श्री गणेशाय नमः'** ऐसा शुद्ध पा
कर। तब वह बोला कि– 'मेरे महन्त जी बड़े पण्डित हैं। उन्होंने जै
मुझको सुनाया है, वैसा ही घोखूँगा'। उसने पानी भरकर अपने गुरु
पास जाके कहा कि– 'महाराज जी ! एक बम्मन मेरे पाठ को अशु
बतलाता है'। तब खाकी जी ने चेलों से कहा कि– 'उस बम्मन
यहाँ बुला लाओ वह गुरु का फटकारा मेरे चेलों को क्यों बहकाता, अ
शुद्ध को अशुद्ध क्यों बतलाता है ?' चेला गया पण्डित जी को बु
लाया।

पण्डित से महन्त बोले कि– 'तू इसके कितने प्रकार के पा
जानता है ?' पण्डित ने कहा कि– 'एक प्रकार का'। महन्त जी ने क
कि– 'तू कुछ भी नहीं जानता है। देख, मैं तीन प्रकार का पाठ जान
हूँ। एक– **स्त्री गनेसाजनम**। दूसरा– **स्त्री गनेसापनम**। तीसरा–
गनेसायनम।' (**पण्डित**)– महन्त जी ! तुम्हारे पाठ में पाँच दोष
प्रथम– श का स, दूसरा– ण का न, तीसरा शा का सा, चौथा– य
ज प बोलना, और [पाँचवाँ] विसर्जनीय का न बोलना, ये पाँ
अशुद्धियाँ हैं। महन्त जी बोले– 'चलबे, गुरु के बड़े घर में सब सु
हैं।'

पण्डित चुपकर चले गये। क्योंकि–

---

१. यह दृष्टान्त कुछ भेद से सत्यार्थप्रकाश समु॰ ११, पृ॰ ५३७–५३८ में भी दि
है।

"सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रकथितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्"।

[नीतिशतक श्लोक ११]

सब का औषध [शास्त्रों में कहा] है, परन्तु शठ मनुष्यों का औषध कोई भी नहीं। ऐसे हठी मनुष्यों से अलग रहे। जो वे सुधरा चाहें, तो विद्वान् उपदेश करके उनको अवश्य सुधारें।

[कैसी आज्ञा नहीं माननी चाहिये]

(प्र॰) जो माता-पिता, आचार्य और अतिथि अधर्म करें, और कराने का उपदेश करें, तो मानना चाहिये वा नहीं ?

(उ॰) कदापि नहीं। कुमाता कुपिता सन्तानों को बुरे उपदेश करते हैं कि बेटा ! बिटिया ! तेरा विवाह शीघ्र कर देंगे। किसी की चीज पावे, तो उठा लाना। कोई एक गाली दे, तो उसको तू पचास गाली दे। लड़ाई-झगड़ा, खेल, चोरी-जारी, मिथ्याभाषण, भांग, मद्य, गांजा, चरस, अफीम खाना-पीना आदि कर्म करने में कुछ दोष नहीं, क्योंकि अपनी कुलपरम्परा है। सुनो प्रमाण **'कुलधर्मः सनातनः'**। जो कुल में धर्म पहिले से चला आता है, उसके करने में कुछ भी दोष नहीं।

(सुसन्तान आह)– जो तुमने शीघ्र विवाह करना, किसी की चीज उठा लाना आदि कर्म कहे, वे दुष्ट मनुष्यों के काम हैं, श्रेष्ठों के नहीं। किन्तु श्रेष्ठ तो ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़कर स्वयंवर अर्थात् पूर्ण युवावस्था में दोनों का प्रसन्नतापूर्वक विवाह करना। किसी की करोड़ों की चीज जंगल में भी पड़ी देखकर कभी ग्रहण करने की मन भी इच्छा न करना, आदि कर्म किया करते हैं। जो-जो तुम्हारे उत्तम कर्म और उपदेश हैं, उन-उन को तो हम ग्रहण करते हैं, अन्य को नहीं। परन्तु तुम कैसे ही हो, हमको तन-मन-धन से तुम्हारी सेवा करना परम

धर्म है। क्योंकि जैसे तुमने बाल्यावस्था में हमारी सेवा की है, वैसे तुम्हारी सेवा हम क्यों न करें ?

(कुसन्तान आह)– श्रेष्ठ माता-पिता, आचार्य अतिथियों अभागे सन्तान कहते हैं कि– 'हमको खूब खिलाओ-पिलाओ। खेल दो, हमारे लिये कमाया करो। जब तुम मर जाओगे, तब हम ही को स करना पड़ेगा। शीघ्र विवाह कर दो, नहीं तो हम इधर-उधर लीला करें ही। बाग में जाके नाच-तमाशा करेंगे, वा वैरागी हो जायेंगे। पढ़ने बड़ा कष्ट होता है, हमको पढ़के क्या करना है ? क्योंकि हमारी सेव करने वाले तुम बने ही हो। हमको सैर-सपट्टा, सवारी-शिकारी, नाच खाने-पीने, ओढ़ने-पहनने के लिये खूब दिया करो नहीं तो हम ज जवान होंगे, तब तुमको समझ लेंगे।' **'दण्डादण्डि, नखानखि, केशाकेशि मुष्टामुष्टि युद्धमेव भविष्यत्यन्यत् किम्'** ? ऐसे-ऐसे सन्तान दु कहाते हैं।

उत्तम माता-पिता आदि उनसे कहते हैं कि– 'सुनो लड़को अभी तुम्हारी पढ़ने-गुनने की, सत्संग करने, अच्छी-अच्छी बातें सीख वीर्यनिग्रह, आचार्य आदि की सेवा करके विद्वान् होने, शरीर और आत की पूर्ण युवावस्था आदि उत्तम कर्म करने की अवस्था है। जो चूको तो फिर पछताओगे। पुनः ऐसा समय तुमको मिलना अतिकठिन क्योंकि जब तक हम घर का, और तुम्हारे खाने-पीने आदि का प्रब करने वाले हैं, तब तक तुम सुशिक्षाग्रहणपूर्वक सर्वोत्कृष्ट विद्यारू धन को संचित करो। यही अक्षय धन है कि जिसको चोर आदि न सकते, न भार होता। और जितना दान करो उतना ही अधिक-अधि बढ़ता जाता है। इसके होने से जहाँ रहोगे, वहाँ सुखी और प्रतिष

पाओगे। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्धी कर्मों को जानकर सिद्ध कर सकोगे।'

'हम जब तुमको विद्यारूप श्रेष्ठ गुणों से अलंकृत देखेंगे, तभी हमको परम सन्तोष होगा। और जो तुम कोई दुष्ट काम करोगे, तो हम अपना भी अभाग्य समझेंगे। क्योंकि हमारे कौन से पापों के फल से हमको दुष्ट सन्तान मिले। क्या तुम नहीं देखते कि जिन मनुष्यों को राज्य-धन प्राप्त भी हैं, परन्तु विद्या और उत्तम शिक्षा के विना नष्ट-भ्रष्ट हो जाते। और श्रेष्ठ विद्या सुशिक्षा से युक्त दरिद्र भी राज्य और ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं।

तुमको चाहिये कि-

'यान्यस्माकꣳसुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि॥[1]'

तैत्तिरीय आरण्यके प्रपाठके ७, अनुवाक: ११

'जो-जो हमारे उत्तम चरित्र हैं, सो-सो करो। और जो कभी हम भी बुरे काम करें, उनको कभी मत करो।' इत्यादि उत्तम उपदेश और कर्म करने और कराने हारे माता-पिता और आचार्य आदि श्रेष्ठ कहाते हैं।

[राजा-प्रजा और इष्ट मित्रों के साथ वर्त्ताव]

(प्र०) राजा-प्रजा और इष्ट-मित्रादि के साथ कैसा-कैसा व्यवहार करें?

(उ०) राजपुरुष प्रजा के लिये सुमाता और सुपिता के समान, और प्रजापुरुष राजसम्बन्ध में सुसन्तान के सदृश वर्त्तकर परस्पर आनन्द बढ़ावें। मित्र-मित्र के साथ सत्य व्यवहारों के लिये आत्मा के समान

---

१. यह वाक्य सत्यार्थप्रकाश समु० २, पृष्ठ ५५; समु० ३, पृष्ठ ७६ में भी है।

प्रीति से वर्त्ते, परन्तु अधर्म के लिये नहीं। पड़ोसी के साथ ऐसा वर्त्ता करें कि जैसा अपने शरीर के लिये करते हैं। वैसे ही मित्रादि के लि भी कर्म किया करें। स्वामी सेवक के साथ ऐसा वर्त्ते कि जैसा अप हस्त-पादादि अंगों की रक्षा के लिये वर्त्तते हैं। सेवक स्वामियों के लि ऐसे वर्त्तें कि जैसे अन्न-जल-वस्त्र और घर आदि शरीर की रक्षा वे लिये होते हैं।

[कन्याओं के विद्याध्ययन और ब्रह्मचर्य का विधान]

(प्र०) ब्रह्मचर्य के क्या-क्या नियम हैं ?

(उ०) कम से कम २५ वर्ष पर्यन्त पुरुष और सोलह वर्ष पर्य कन्या को ब्रह्मचर्य सेवन अवश्य करना चाहिये। और अड़तालीसवें व से अधिक पुरुष, और चौबीसवें [वर्ष] से अधिक कन्या ब्रह्मचर्य व सेवन न करें। किन्तु इसके उपरान्त गृहाश्रम का समय है[1]।

(प्र०) **प्रमादी ब्रूते**– पागल मनुष्य कहता है कि– 'सुनो जी कन्याओं का पढ़ना शास्त्रोक्त नहीं। क्योंकि जब वे पढ़ जावेंगी, तो मू पति का अपमान कर इधर-उधर पत्र भेजकर अन्य पुरुषों से प्री जमाके व्यभिचार किया करेंगी।'

(उ०) **सज्जनः समाधत्ते**– श्रेष्ठ मनुष्य उसको उत्तर देता है 'सुनो जी ! तुम्हारे कहने से यह आया कि किसी पुरुष को भी न पढ़ चाहिये। क्योंकि वह भी पढ़कर मूर्ख स्त्री का अपमान और डाकगा चलाकर इधर-उधर अन्य स्त्रियों के साथ सैर-सपाटा किया करेगा।'

(प्र०) **प्रमादी**– हाँ पुरुष भी न पढ़े, तो अच्छी बात है। क्योंकि

१. तुलना करो– सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पृष्ठ ७०; संस्कारविधि वेदारम्भ संस्का पृष्ठ १२२-१२३ आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण।

पढ़े हुए मनुष्य चतुराई से दूसरों को धोखा देकर अपमान करके अपना मतलब सिद्ध कर लेते हैं।

(उ०) **सज्जन–** सुनो जी ! यह विद्या पढ़ने का दोष नहीं, किन्तु आप जैसे मनुष्यों के संग का दोष है। और जो पढ़ना-पढ़ाना धर्म और ईश्वर की विद्या से विरुद्ध है, सो तो प्रायः बुरे काम का कारण देखने में आता है। और जो पढ़ना-पढ़ाना उक्त विद्या से सहित है, वह तो सबके सुख और उपकार ही के लिये होता है।

(प्र०) कन्याओं के पढ़ने में वैदिक प्रमाण कहाँ है ?

(उ०) सुनो प्रमाण–

'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'[१]॥

अथर्व० कां० ११, सू० ५, मन्त्र १८॥

अर्थ– जैसे लड़के लोग ब्रह्मचर्य करते हैं, वैसे कन्या लोग ब्रह्मचर्य करके वर्णोच्चारण से लेकर वेदपर्यन्त शास्त्रों को पढ़कर प्रसन्न करके स्वेच्छा से पूर्ण युवावस्था वाले विद्वान् पति को वेदोक्त रीति से ग्रहण करे॥

क्या अधर्मी से भिन्न कोई ऐसा भी मनुष्य होगा कि किसी पुरुष वा स्त्री को विद्या के पढ़ने से रोककर मूर्ख रक्खा चाहे। और वेदोक्त प्रमाण का अपमान करके अपना कल्याण किया चाहे ?

[विद्या-प्राप्ति का क्रम]

(प्र०) विद्या को किस-किस क्रम से प्राप्त हो सकते हैं ?

(उ०) शुद्ध वर्णोच्चारण, व्यवहार की शुद्धि, पुरुषार्थ, धार्मिक,

---

१. इस मन्त्र की व्याख्या सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पृ० १११; संस्कारविधि वेदारम्भ संस्कार पृष्ठ ११७ में भी है।

विद्वानों का संग, विषयकथाप्रसंग का त्याग, सुविचार से व्याकरण आ [द्वारा] शब्द, अर्थ और सम्बन्धों को यथावत् जानकर, उत्तम क्रि करके सर्वथा साक्षात् करता जाय। जिस-जिस विद्या के लिये जो- साधन रूप सत्य ग्रन्थ हैं, उन-उन को पढ़कर वेदादि पढ़ने के यो ग्रन्थों के अर्थों को जानना आदि कर्म शीघ्र विद्वान् होने के साधन है

[विना पढ़े मनुष्यों की दो प्रकार की गति]

(प्र०) विना पढ़े हुए मनुष्यों की क्या गति होगी ?

(उ०) दो– एक अच्छी और दूसरी बुरी। अच्छी उसको कहते कि जो मनुष्य विद्या पढ़ने का सामर्थ्य तो नहीं रक्खे, और व धर्माचरण किया चाहे, तो विद्वानों के संग और अपने आत्मा व पवित्रता [और] अविरुद्धता से धर्मात्मा अवश्य हो सकता है। क्योंकि सब मनुष्यों को विद्वान् होने का तो सम्भव ही नहीं, परन्तु धार्मिक हो का सम्भव सबके लिये है। कि जैसे अपने लिये सुख की प्राप्ति अ दुःख का त्याग, मान्य होने, अपमान के न होने आदि की अभिला करते हैं, तो दूसरों के लिये क्यों न करनी चाहिये ?

जब किसी की कोई चोरी, वा किसी पर झूठा जाल लगाता है तो क्या उसको अच्छा लगता है ? और क्या जिस-जिस कर्म के कर में अपने आत्मा को शंका, लज्जा और भय नहीं होता, वह-वह ध किसी को विदित नहीं होता ? क्या जो कोई आत्मविरोध, अर्थात् आत्म में कुछ और वाणी में कुछ भिन्न, और क्रिया में विलक्षणता करता है वह अधर्मी, और जिसके जैसा आत्मा में वैसा वाणी, और जैसा वाणी में वैसा ही क्रिया में आचरण है, वह धर्मात्मा नहीं है ? प्रमाण–

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

यजुः० अ० ४०, मं० ३॥

अर्थ– (ये) जो (आत्महनः) आत्महत्यारे अर्थात् आत्मस्थ ज्ञान से विरुद्ध कहने, मानने और करने हारे हैं, (ते) वे ही (लोकाः) लोग (असुर्य्या नाम) असुर अर्थात् दैत्य राक्षस नाम वाले मनुष्य हैं। और वे ही (अन्धेन तमसा वृताः) बड़े अधर्मरूप अन्धकार से युक्त होके जीते हुये और मरण को प्राप्त होकर (तान्) दुःखदायक देहादि पदार्थों को (अभिगच्छन्ति) सर्वदा प्राप्त होते हैं। और जो आत्मरक्षक अर्थात् आत्मा के अनुकूल ही कहते, मानते और आचरण करते हैं, वे मनुष्य विद्यारूप शुद्ध प्रकाश से युक्त होकर देव अर्थात् विद्वान् नाम से प्रख्यात हैं। वे ही सर्वदा सुख को प्राप्त होकर मरने के पीछे भी आनन्दयुक्त देहादि पदार्थों को प्राप्त होते हैं॥

(प्र०) '**विद्या**' और '**अविद्या**' किसको कहते हैं ?

(उ०) जिससे पदार्थ यथावत् जानकर न्याययुक्त कर्म किये जावें वह '**विद्या**' और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कर्म किये जायें वह '**अविद्या**' कहाती है[१]।

(प्र०) '**न्याय**' और '**अन्याय**' किसको कहते हैं ?

(उ०) जो पक्षपातरहित सत्याचरण करना है वह '**न्याय**'। और जो पक्षपात से मिथ्याचरण करना है वह '**अन्याय**' कहाता है।

(प्र०) '**धर्म**' [और '**अधर्म**'] किसको कहते हैं ?

(उ०) जो न्यायाचरण सबके हित का करना आदि कर्म हैं उनको '**धर्म**'। और [जो] अन्यायाचरण, सबके अहित के काम करने हैं

---

१. देखो पृष्ठ ९॥ २. देखो पृष्ठ १०॥

उनको 'अधर्म' जानो[२]।

महामूर्ख का दृष्टान्त

एक प्रियदास का चेला भगवानदास अपने गुरु से बारह वर्ष पर्यन्त पढ़ा। एक दिन [उसने] उनसे पूछा कि महाराज ! मुझको संस्कृत बोलना नहीं आया।

गुरु बोले– 'सुन बे ! पढ़ने-पढ़ाने से विद्या नहीं आती, किन्तु गुरु की कृपा से आ जाती है। जब गुरु सेवा से प्रसन्न होता है, तब जैसे कुञ्जियों से ताला खोलकर मकान के सब पदार्थ झट देखने में आते हैं। वे ऐसी युक्ति बतला देते हैं कि हृदय के कपाट खुल जाकर सब पदार्थ-विद्या तत्क्षण आ जाती है। सुन, संस्कृत बोलने की तो सहज युक्ति है।

[भगवानदास] महाराज जी ! वह क्या है ? [गुरु] संसार में जितने शब्द संस्कृत वा देशभाषा में हों, उन पर एक-एक बिन्दु धरने से सब शुद्ध संस्कृत हो जाते हैं। [भग॰] अच्छा तो महाराज जी लोटा, जल, रोटी, दाल, शाक आदि शब्दों पर बिन्दु धरके कैसे संस्कृत हो जाते हैं ? [गुरु] देखो– लोंटां। जंलं। रोंटीं। दांलं। शांकं। चेला बोला वाह !! गुरु के विना क्षणमात्र में पूरी विद्या कौन बतला सकता है ?

भगवानदास ने अपने आसन पर जाकर विचार के यह श्लोक बनाया–

बांपं आंजां नंमंस्कृंत्यं परं पांजं तंथैंवं चं।
मंयां भंगंवांनंदांसेंनं गींतां टींकां कंरोंम्यंहंम्॥

जब उसने प्रातःकाल उठकर हर्षित होके गुरु के पास जाकर [यह] श्लोक सुनाया तब तो प्रियदास जी बहुत प्रसन्न हुए कि चेले हो

तो तेरे ही समान गुरु के वचन पर विश्वासी, और जो गुरु हो तो मेरे सदृश हो।।

ऐसे मनुष्यों का क्या औषध है, विना अलग रहने के ?

(प्र०) विद्या पढ़ते समय वा पढ़के किसी दूसरे को पढ़ावें वा नहीं ?

(उ०) बराबर पढ़ाता जाय। क्योंकि पढ़ने से पढ़ाने में विद्या की वृद्धि अधिक होती है। पढ़के आप अकेला विद्वान् रहता, और पढ़ाने से दूसरा भी हो जाता है। उत्तरोत्तर काल में विद्या की वृद्धि होती ही है। जो विद्या को प्राप्त होता है, वह मनुष्य परोपकारी, धार्मिक अवश्य होता है। क्योंकि जैसे अन्धा कुएं में गिर पड़ता है, वैसे देखने हारा कभी नहीं गिरता। और अविद्या की हानि होने आदि प्रयोजन पढ़ाने से ही सिद्ध होते हैं।

[क्षुद्रबुद्धि और शूद्र का संवाद]

क्षुद्रबुद्धिरुवाच– सभी विद्वान् हो जावेंगे, तो हमको कौन पूछते ? और आप ही आप सब पुस्तकों को बांचकर अर्थ समझ लेंगे। पूजापाठ में भी [न] बुलावेंगे। विशेष विघ्न धनाढ्य और राजाओं के पढ़ाने में है। क्योंकि उनसे हम लोगों की बड़ी जीविका होती है।

जब किसी शूद्र ने उनके पास पढ़ने की इच्छा से जाके कहा कि मुझको आप कुछ पढ़ाइये। तो–

अल्पबुद्धि– तू कौन है ? क्या काम करता है ? और तेरे घर में क्या व्यवहार होता है ?

दास– मैं तो महाराज ! आपका दास शूद्र हूँ। कुछ जमींदारी खेतीबाड़ी भी होती है, और घर में कुछ लेन-देन का भी व्यवहार है।

(नष्टमति) छी छी छी !!! तुझको सुनने और हमको सुनाने क भी अधिकार नहीं है। जो तू अपना धर्म छोड़कर हमारा धर्म करेगा, त क्या नरक में न पड़ेगा ? हाँ, तुझको वेदों से भिन्न ग्रन्थों की कथा सुन का अधिकार है। जब तेरी सुनने की इच्छा हो, तब हमको बुला लेन सुना देंगे। परन्तु आप से आप मत बांच लेना, नहीं तो अधर्मी हो जावेग जो कुछ भेंट-पूजा लाया हो, सो धरके चला जा। और सुन, हमारे वच को मान ले, नहीं तो तेरी मुक्ति कभी नहीं होगी। खूब कमा और हमा सेवा किया कर। इसी में तेरा कल्याण, और तुझ पर ईश्वर प्रसन्न होग

(दास) महाराज ! मुझको तो पढ़ने की बहुत इच्छा है। क्य विद्या का पढ़ना बुरी चीज है कि दोष लग जाय ? **(बकवृत्ति)** बस बस, तुझको किसी ने बहका दिया है, जो हमारे सामने उत्तर-प्रत्युत्त करता है। हाय क्या करें ? कलियुग आ गया। विद्या को पढ़कर हमा उपदेश नहीं मानते, बिगड़ गये।

(दास) क्या महाराज ! हमारे ही ऊपर कलियुग ने चढ़ाई क दी कि हम ही को पढ़ने और मुक्ति से रोकता है ? **(स्वार्थी)** हाँ हाँ जो सतयुग होता, तो तू [क्या] हमारे सामने ऐसा बक-बक कर सकता

(दास) अच्छा तो महाराज जी ! आप नहीं पढ़ाते, तो हमक जो कोई पढ़ावेगा उसके चेले हो जावेंगे। **(अन्धकारी)** सुन-सुन कलियुग में और क्या होना है ? **(दास)** आपकी हम सेवा करें, उसके बदले आप हमको क्या देंगे ? **(मार्जारलिंगी)** आशीर्वाद। **(दास)** उस आशीर्वाद से क्या होगा ? **(धूर्त्त)** तुम्हारा कल्याण। **(दास)** जब आप हमारा कल्याण चाहते हैं, तो क्या विद्या के पढ़ने से अकल्याण होत है ? **(पोप उवाच)** अब क्या तू हम से शास्त्रार्थ करता है ?

(प्र०) **'पोप'** का क्या अर्थ है[१] ?

(उ०) यह शब्द अन्य देश की भाषा का है। वहाँ तो इसका अर्थ पिता और बड़े का है, परन्तु यहाँ जो केवल धूर्त्तता करके अपना मतलब सिद्धं करने हारा हो, उसी का नाम है।

(प्र०) जो विद्या पढ़ा हो, और उसमें धार्मिकता न हो, तो उसको विद्या का फल होगा वा नहीं ?

(उ०) कभी नहीं। क्योंकि विद्या का यही फल है कि जो मनुष्य को धार्मिक होना अवश्य है। जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जानकर न किया, और बुरा जानकर न छोड़ा, तो क्या वह चोर के समान नहीं है ? क्योंकि जैसे चोर भी चोरी को बुरी जानता हुआ करता है, और साहूकारी को अच्छी जानके भी नहीं करता, वैसे ही जो पढ़के भी अधर्म को नहीं छोड़ता, और धर्म को नहीं करने हारा मनुष्य है।

(प्र०) जब कोई मनुष्य मन से बुरा जानता है, परन्तु किसी विशेष भय आदि निमित्तों से नहीं छोड़ सकता, और अच्छे काम को नहीं कर सकता, तब भी क्या उसको दोष वा गुण होता है, अथवा नहीं।

(उ०) दोष ही होता है क्योंकि जो उसने अधर्म कर लिया, उसका फल अवश्य होगा। और जानकर भी धर्म को न किया, उसको सुखरूप फल कुछ भी नहीं होगा। जैसे कोई मनुष्य कुएं में गिरना बुरा जानके भी गिरे, क्या उसको दुःख न होगा ? और अच्छे मार्ग में चलना उत्तम जानकर भी न चले, उसको सुख कभी होगा ? इसलिये—

[सत्पुरुष और असत्पुरुष का लक्षण]

यथा मतिस्तथोक्तिर्यथोक्तिस्तथा मतिः।

---

१. सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृ० ४१६।

सत्पुरुषस्य लक्षणमतो विपरीतमसत्पुरुषस्येति।।

वही **'सत्पुरुष'** का लक्षण[१] है कि जैसा आत्मा का ज्ञान वैसा वचन, और जैसा वचन वैसा ही कर्म करना। और जिसका आत्मा से मन उससे वचन और वचन से विरुद्ध कर्म करना है, वही **'असत्पुरुष'** का लक्षण है।।

इसलिये मनुष्यों को उचित है कि सब प्रकार का पुरुषार्थ करके अवश्य धार्मिक हों।

(प्रश्न) **'पुरुषार्थ'** किसको कहते हैं, और उसके कितने भेद हैं[२] ?

(उत्तर) उद्योग का नाम **'पुरुषार्थ'** है, और उसके चार भेद हैं। **एक–** अप्राप्त की इच्छा। **दूसरा–** प्राप्त की यथावत् रक्षा। **तीसरा–** रक्षित की वृद्धि। और **चौथा–** बढ़ाये हुए पदार्थों का धर्म में खर्च करना पुरुषार्थ के भेद हैं[३]। जो-जो न्याय धर्म से युक्त क्रिया से अप्राप्त पदार्थों की अभिलाषा करके उद्योग करना। उसी प्रकार उसकी सब प्रकार से रक्षा करनी कि वह पदार्थ किसी प्रकार से नष्ट-भ्रष्ट न हो जाय। उसको धर्मयुक्त व्यवहार से बढ़ाते जाना। और बढ़े हुये पदार्थ को उत्तम व्यवहारों में खर्च करना, ये चार भेद हैं।

[तन-मन-धन का सदुपयोग]

(प्र०) किस-किस प्रकार से किस-किस व्यवहार में तन-मन-धन लगाना चाहिये ?

(उ०) निम्नलिखित चारों में विद्या की वृद्धि, परोपकार, अनाथों

---

१. आर्योद्देश्य० सं० १८।। २. वही, सं० ५५,५६।। ३. अलब्धं चैव लिप्सेत, लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः। रक्षितं वर्धयेच्चैव, वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्।। मनु० ७.९९।।

का पालन और अपने सम्बन्धियों की रक्षा। विद्या [की वृद्धि] के लिये शरीर का आरोग्य, और उससे यथायोग्य क्रिया करनी। मन में अत्यन्त विचार करना-कराना। और धन से अपने सन्तान और अन्य मनुष्यों को विद्या-दान करना-कराना चाहिये।

परोपकार के लिये शरीर और मन से अत्यन्त उद्योग और धन से नाना प्रकार के व्यवहार तथा कारखाने खड़े करने कि जिनमें अनेक मनुष्य कर्म करके अपना-अपना जीवन सुख से व्यतीत किया करें[१]।

'अनाथ' उनको कहते हैं कि जिनका सामर्थ्य अपने पालन करने का भी न हो, जैसे कि बालक, वृद्ध, रोगी, अंग-भंग आदि हैं। उनका भी तन-मन-धन लगाकर सुखी रखके जिस-जिस से जो-जो काम बन सके, उस-उस से वह-वह कार्य सिद्ध करना चाहिये, कि जिससे कोई आलसी होके नष्टबुद्धि न हो।

और अपने सन्तान आदि मनुष्यों के खान-पान अथवा विद्या की प्राप्ति के लिये जितना तन-मन-धन लगाया जाय उतना थोड़ा है। परन्तु किसी को निकम्मा न रहना और न रखना चाहिए।

[विवाहित स्त्री-पुरुष का पारस्परिक वर्त्ताव]

(प्र॰) विवाह करके स्त्री-पुरुष आपस में कैसे वर्त्तें ?

(उ॰) कभी कोई किसी का अप्रियाचरण, अर्थात् जिस-जिस व्यवहार से एक-दूसरे को कष्ट होवे, सो-सो काम कभी न करें, जैसे व्यभिचार आदि। एक-दूसरे को देखकर प्रसन्न हों, एक-दूसरे की सेवा करें। पुरुष भोजन, वस्त्र, आभूषण और प्रियवचन आदि व्यवहारों से स्त्री को सदा प्रसन्न रक्खे[२] और घर के सब कृत्य उसके आधीन करे।

---

१. आर्योद्देश्य॰ सं॰ ५७। २. तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः। मनु॰ ३.५९॥

स्त्री भी अपने पति से प्रसन्नवदन, खान-पान, प्रेमभाव आदि से उसको सदा हर्षित रक्खे कि जिससे उत्तम सन्तान हों, और सदा दोनों में आनन्द बढ़ता जाय।

(प्र०) ऐसा न करें, तो क्या बिगाड़ है ?

(उ०) सर्वस्व-नाश। क्योंकि परस्पर प्रीति के विना न गृहाश्रम का किञ्चित् सुख, न उत्तम सन्तान और न प्रतिष्ठा वा लक्ष्मी आदि श्रेष्ठ पदार्थों की प्राप्ति कभी होती है।

सुनो मनु जी क्या कहते हैं–

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।।

मनु० ३.६०।।

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री आनन्दित रहती है, उसी में निश्चित कल्याण स्थित रहता है।। परन्तु यह बात तब होगी कि जब ब्रह्मचर्य से विद्या, शिक्षा ग्रहण करके युवावस्था में परस्पर परीक्षा करके प्रसन्नतापूर्वक स्वयंवर ही विवाह करेंगे। क्योंकि जितनी सुख विद्या और उत्तम प्रजा की हानि बाल्यावस्था में विवाह से होती है, उतना ही सुखलाभ ब्रह्मचर्य से शरीर और आत्मा की पूर्ण युवावस्था में परस्पर प्रीति से विवाह करने से होता है।

जो मनुष्य परस्पर प्रीति से स्वयंवर विवाह करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं, उनके सन्तान भी ऐसे योग्य होते हैं कि लाखों में एक ही होते हैं कि जिनमें बुद्धि, बल, पराक्रम, धर्म और सुशीलतादि शुभ गुण पूर्ण होके महाभाग्यशाली कहाकर अपने कुल को अति प्रशंसित कर देते हैं।

[मनुष्यपन का लक्षण]

(प्र०) 'मनुष्यपन' किसको कहते हैं ?

(उ०) इस मनुष्य जाति में एक ऐसा गुण है, कि वैसा किसी दूसरी जाति में नहीं पाया जाता।

(प्र०) वह कौन सा ?

(उ०) जितने मनुष्य से भिन्न जातिस्थ प्राणी हैं, उनमें दो प्रकार का स्वभाव है– बलवान् से डरना, निर्बल को डराना और पीड़ा देकर अर्थात् दूसरे का प्राण तक निकाल के अपना मतलब साध लेना देखने में आता है। जो मनुष्य ऐसा ही स्वभाव रखता है उसको भी इन्हीं जातियों में गिनना उचित है। परन्तु जो निर्बलों पर दया, उनका उपकार, और निर्बलों को पीड़ा देने वाले अधर्मी बलवानों से किञ्चिन्मात्र भी भय-शंका न करके, इनको परपीड़ा से हटाके निर्बलों की रक्षा तन-मन और धन से सदा करना है, वही मनुष्य जाति का निज गुण है[१]। क्योंकि जो बुरे कामों के करने में भय, और सत्य कामों के करने में किञ्चित् भी भय-शंका नहीं करते, वे ही मनुष्य धन्यवाद के पात्र कहाते हैं।

[सदा सत्य व्यवहार करना चाहिये]

(प्र०) क्यों जी ! सर्वथा सत्य से तो कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। देखो, व्यापार में सत्य बात कह दें, तो किसी पदार्थ का विक्रय न हो। हार-जीत के व्यवहारों में मिथ्या साक्षी न खड़े करें, तो हार हो जाय इत्यादि हेतुओं से सब ठिकानों में सत्यभाषणादि कैसे कर सकते हैं ?

(उ०) यह बात महामूर्खता की है।

---
१. आर्योद्देश्य० सं० ३९।

[लालबुझक्कड़ का दृष्टान्त]

जैसे किसी ग्राम में लालबुझक्कड़ रहता था, कि जिसको पाँच सौ ग्राम वाले महापण्डित और एक गुरु मानते थे। एक रात में किसी राजा का हाथी उसी ग्राम के समीप होकर कहीं स्थानान्तर को चला गया था। उसके पग के चिह्न जहाँ-तहाँ मार्ग में बन रहे थे। उनको देखकर खेती करने हारे ग्रामीण लोगों ने परस्पर पूछा कि भाइयों ! यह किसका खोज है[१] ? सब ने कहा कि हम नहीं जानते। फिर सबकी सम्मति से लालबुझक्कड़ को बुला के पूछा कि– 'तुम्हारे विना कोई भी मनुष्य इसका समाधान नहीं कर सकता। कहो यह किसके पग का चिह्न है' ? जब वह रोया और रोकर हंसा, तब सबने पूछा कि– 'तुम क्यों रोये और रोकर क्यों हंसे ?' तब वह बोला कि जब मैं मर जाऊँगा, तब ऐसी-ऐसी बातों का उत्तर मेरे विना कौन दे सकेगा ? और हंसा इसलिये कि इसका उत्तर तो सहज है। सुनो–

लालबुझक्कड़ बूझिया और न बूझा कोय।
पग में चक्की बांधके हिरना कूदा होय।।

जो जंगल में हिरन होता है, वह किसी जंगली मनुष्य की चक्की के पाटों को अपने पगों में बांधके कूदता चला गया है।। तब सुनकर सब लोगों ने वाह-वाह बोलकर उसको धन्यवाद दिया कि– 'तुम्हारे सदृश पृथिवी में कोई पण्डित नहीं है कि ऐसी-ऐसी बातों का उत्तर दे सके'।

जब वह लालबुझक्कड़ ग्राम की ओर आता ही था, इतने में एक ग्रामीण की स्त्री ने जंगल से बेर लाके, जो अपना लड़का छप्पर के

१. अर्थात् पैर का चिह्न।

खम्भे को पकड़े खड़ा था, उसको कहा कि– बेटा ! बेर ले, तब उसने हाथों की अञ्जलि बांधके बेरों को ले लिया। परन्तु जब छप्पर की थूनी हाथों के बीच में रहने से उसका मुख बेर तक न पहुँचा, तब लड़का रोने लगा। उसको रोते देखकर उसकी माँ और बाप भी रोने लगे कि हाय हमारे लड़के को खम्भे ने पकड़ लिया रे रे रे ! तब उसको सुनके अड़ौसी-पड़ौसी भी रोने लगे कि हाय रे दय्या ! इनके लड़के को खम्भे ने कैसा पकड़ लिया है कि छोड़ता ही नहीं।

तब किसी ने कहा कि लालबुझक्कड़ को बुलाओ। उसके विना कोई भी लड़के को नहीं छुड़ा सकेगा। तब एक मनुष्य उसको शीघ्र बुला लाया। फिर उसको पूछा कि यह लड़का कैसे छूट सकता है ? तब वह बोला कि– 'सुनो लोगो ! दो प्रकार से यह लड़का छूट सकता है। एक तो यह है कि कुल्हाड़ा लाके लड़के का एक हाथ काट डालो, अभी छूट जाय। और दूसरा उपाय यह है कि प्रथम छप्पर को उठाके नीचे धरो। फिर लड़के को थूनी के ऊपर से उतार ले आओ। तब लड़के का बाप बोला कि– 'हम दरिद्र मनुष्य हैं। हमारा छप्पर टूट जायेगा, तो फिर छाना कठिन है।' तब लालबुझक्कड़ बोला कि– 'लाओ कुल्हाड़ा फिर क्या देख रहे हो' ?

कुल्हाड़ा लाके जब तक हाथ काटने को तैयार हुये, तब तक दूसरे ग्राम की एक बुद्धिमती स्त्री भी हल्ला सुनकर वहाँ पहुँचकर देखके बोली किं इसका हाथ मत काटो। मैं इस लड़के को छुड़ा देती हूँ। जब वह खम्भे के पास जाके लड़के की अञ्जलि के नीचे अपनी अञ्जलि करके बोली कि–'बेटा ! मेरे हाथ में बेर छोड़ दो'। तब वह बेर छोड़के अलग हो गया। फिर उसको बेर दे दिये। वह खाने लगा।

तब तो बहुत क्रुद्ध होकर लालबुझक्कड़ बोला कि– 'यह लड़का छह महीने के बीच मर जायेगा। क्योंकि जैसा मैंने कहा था, वैसा ही करते तो न मरता।' तब तो उसके माँ–बाप घबरा के बोले– अब क्या करना चाहिये ? तब उस स्त्री ने समझाया कि यह बात झूठ है। और जो हाथ के काटने से अभी मर जाता, तो तुम क्या करते ? मरण से बचने की कोई औषध नहीं। तब उनका घबराहट छूट गया।

वैसे जो मनुष्य महामूर्ख हैं, वे ऐसा समझते हैं कि सत्य से व्यवहार का नाश, और झूठ से ही व्यवहार की सिद्धि होती है। परन्तु जब किसी को कोई एक व्यवहार में झूठा समझ ले, तो उसकी प्रतिष्ठा और विश्वास सब नष्ट होकर उसके सब व्यवहार नष्ट हो जाते। और जो सब व्यवहारों में झूठ को छोड़कर सत्य ही कहते हैं, उनको लाभ ही लाभ होते हैं, हानि कभी नहीं। क्योंकि सत्य व्यवहार करने का नाम **'धर्म'** और विपरीत का नाम **'अधर्म'** है। क्या धर्म का सुखलाभरूपी और अधर्म का दुःखरूपी फल नहीं होता ?

[इसमें] प्रमाण–

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥१॥ यजुः० १.५॥

सत्यमेव जयति नाऽनृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥२॥

मुण्ड० ३.१.६॥

नहि सत्यात् परो धर्मो नाऽनृतात् पातकं परम्॥३॥ इत्यादि।

अर्थ– मनुष्य में मनुष्यपन यही है कि सर्वथा झूठे व्यवहारों को छोड़कर सत्य व्यवहारों को सदा ग्रहण करे।

क्योंकि सर्वदा सत्य का ही विजय और झूठ का पराजय होता है।

इसलिये जिस सत्य से चलके धार्मिक ऋषि लोग जहाँ सत्य की निधि परमात्मा है, उसको प्राप्त होकर आनन्दित हुये थे, और अब भी होते हैं, उसका सेवन मनुष्य लोग क्यों न करें ?

यह निश्चित है कि न सत्य से परे कोई धर्म, और न असत्य से परे कोई अधर्म है। इससे धन्य वे मनुष्य हैं, जो सब व्यवहारों को सत्य से ही करते, और झूठ से युक्त कर्म किञ्चिन्मात्र भी नहीं करते हैं।।३।।

[झूठे ग्राहक और झूठे बजाज का दृष्टान्त]

दृष्टान्त– एक किसी अधर्मी मनुष्य ने किसी अधर्मी बजाज की दुकान पर जाकर कहा कि यह वस्त्र कितने आने गज देगा ? वह बोला कि सोलह आने, तुम भी कुछ कहो। बजाज और ग्राहक दोनों जानते थे कि यह दश आने गज का कपड़ा है। परन्तु अधर्मी झूठ बोलने में कभी नहीं डरते।

(ग्राहक) छह आने गज दो, और सच-सच लेने-देने की बात करो। **(बजाज)** अच्छा तो तुमको दो आने छोड़ देते हैं, चौदह आने दो। **(ग्राहक)** है तो टोटा परन्तु सात आने ले लो। **(बजाज)** अच्छा तो सच-सच कहूँ ? **(ग्राहक)** हाँ। **(बजाज)** चलो एक आना टोटा ही सही, तेरह आने दो। तुमको लेना हो तो लो। **(ग्राहक)** मैं सत्य-सत्य कहता हूँ कि इसका आठ आने से अधिक कोई भी तुमको न देगा। **(बजाज)** तुमको लेना हो तो लो, न लेना हो तो मत लो। परमेश्वर की सौगन्ध, बारह आने गज तो मुझको पड़ा है, तुमको भला मनुष्य जानकर दे देता हूँ। **(ग्राहक)** धर्म की सौगन्ध, मैं सच कहता हूँ। मुझको देना हो तो दे, पीछे पछतावेगा। मैं तो दूसरे की दुकान से ले लूँगा। क्या तुम्हारी एक ही दुकान है ? नव आने गज दे दो, नहीं मैं जाता हूँ।

(बजाज) तुमने कभी ऐसा [कपड़ा] खरीदा भी है ? नव आने गज लाओ मैं सौ गज लेता हूँ।

ग्राहक धीरे-धीरे चला कि मुझको बुलाता है वा नहीं। बजाज तिरछी नजरों से देखता रहा कि देखें यह लौटता है, वा नहीं। जब वह न लौटा तब बोला– 'सुनो इधर आओ'। (ग्राहक) क्या कहते हो, नव आने का दोगे ? (बजाज) ए लो धर्म से कहता हूँ कि ग्यारह आने भी दोगे ? (ग्राहक) साढ़े नव आने ले लो। कहकर कुछ आगे चला। बजाज ने समझा कि हाथ से गया। (बजाज) अजी इधर आओ, आओ। (ग्राहक) क्यों तुम देर लगाते हो ? व्यर्थ काल जाता है। (बजाज) मेरे बेटे की सौगन्ध। तुम इसको न लोगे, तो पछताओगे। अब मैं सत्य ही कहता हूँ– साढ़े दश आने दे दो, नहीं तो तुम्हारी राजी।

(ग्राहक) मेरी सौगन्ध। तुमने दो आने अधिक लिये हैं। अच्छा दश आने देता हूँ, इतने का है तो नहीं। (बजाज) अच्छा सवा दस आने भी दोगे ? (ग्राहक) नहीं-नहीं। (बजाज) अच्छा, आओ बैठो कितने गज लोगे ? (ग्राहक) सवा गज। (बजाज) अजी कुछ अधिक लो। (ग्राहक) अच्छा, नमूना ले जाते हैं। अब तुम्हारी दुकान देख ली। फिर कभी आवेंगे। तो बहुत लेंगे। बजाज ने नापने में कुछ सरकाया। (ग्राहक) अजी देखें तो, तुमने कैसे नापा ? (बजाज) क्या विश्वास नहीं करते हो ? हम साहूकार हैं वा ठट्ठा हैं ? हम कभी झूठ कहते और करते हैं ? (ग्राहक) हाँ जी, तुम बड़े सच्चे हो। एक रुपया कहकर दश आने तक ले आये। छह आने घट गये, अनेक सौगन्ध खाईं। (बजाज) वाह जी वाह ! तुम बड़े सच्चे हो ? छह आने कहकर दश आने तक देने को तैयार हो। अनेक सौगन्ध खा-खाकर आये। सौदा

झूठ के विना कभी नहीं हो सकता।

(ग्राहक) तू बड़ा झूठा है। (बजाज) क्या तू नहीं है ? क्योंकि एक गज कपड़े के लिये कोई भी भला मनुष्य इतना झगड़ा करता है? (ग्राहक) तू झूठा तेरा बाप। हमारी सात पीढ़ी में कोई झूठा भी हुआ है ? (बजाज) तू झूठा, तेरी सात पीढ़ी भी झूठी। ग्राहक ने ले जूता एक मार दिया। बजाज ने चट गज मारा। अड़ोसी-पड़ोसी दुकानदारों ने जैसे-तैसे छुड़ाया। (बजाज) चल-चल, जा तेरे जैसे लाखों देखे हैं। (ग्राहक) चलबे ! तेरे जैसे जुवा चोर टटपूंजिये दुकानदार मैंने करोड़ों देखे हैं। (अड़ोसी-पड़ोसी) अजी झूठ के विना कभी सौदा भी होता है ? जाओ जी, तुम अपनी दुकान पर बैठो। और जाओ तुम अपने घर को। (बजाज) यह बड़ा दुष्ट मनुष्य है। (ग्राहक) अबे, मुख सम्हाल के बोल। (बजाज) तू क्या कर लेगा ? (ग्राहक) जो मैंने किया, सो तैंने देख लिया। और कुछ देखना हो तो दिखला दूँ। (बजाज) क्या तू गज से न पीटा जायेगा ? फिर दोनों लड़ने को दौड़े। जैसे-तैसे लोगों ने अलग-अलग कर दिये। ऐसे ही सर्वत्र झूठे लोगों की दुर्दशा होती है।

[धार्मिकों का दृष्टान्त]

(ग्राहक) इस दुशाले का क्या मूल्य है ? (बजाज) पाँच सौ रुपये। (ग्राहक) अच्छा लीजिये। (बजाज) लो दुशाला।

[सच्चे बजाज और झूठे ग्राहक का दृष्टान्त]

सच्चे दुकान वाले के पास कोई झूठा ग्राहक गया, [और पूछा] इस दुशाले का क्या लोगे ? (बजाज) अढ़ाई सौ रुपये। (ग्राहक) दो सौ लो। (सेठ) जाओ यहाँ तुम्हारे लिये सौदा नहीं है। (ग्राहक) अजी कुछ तो कम लो। (साहूकार) यहाँ झूठ का व्यवहार नहीं है। बहुत मत

बोलो। लेना हो तो लो, नहीं चले जाओ। ग्राहक दूसरी बहुत सी दुकानों में माल देख मूल्य करके फिर वहीं आके अढ़ाई सौ रुपये देकर दुशाला ले गया।

[सच्चे ग्राहक और झूठे बजाज का दृष्टान्त]

सच्चा ग्राहक झूठे दुकानदार के पास जाके बोला कि– इस पीताम्बर का क्या लोगे ? (**बजाज**) पच्चीस रुपये। (**ग्राहक**) बारह रुपये का है, देना हो तो दो। कहकर चलने लगा। (**बजाज**) अजी अठारह दो। (**ग्राहक**) नहीं। (**बजाज**) चौदह दो। (**ग्राहक**) नहीं। (**बजाज**) तेरह दो। (**ग्राहक**) नहीं। (**बजाज**) अच्छा तो साढ़े बारह ही दो। (**ग्राहक**) नहीं। (**बजाज**) सवा बारह दो। (**ग्राहक**) नहीं। (**बजाज**) अच्छा बारह का ही ले जाओ। (**ग्राहक**) लाओ लो रुपये।

ऐसे धार्मिकों को सदा लाभ होता है। और झूठों की दुर्दशा होकर दिवाले ही निकल जाते हैं। इसलिये सब मनुष्यों को अत्यन्त उचित है कि सर्वथा झूठ छोड़कर सत्य ही से सब व्यवहार करें। जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहें।

(प्र०) मनुष्य का आत्मा सदा धर्म-अधर्मयुक्त किस-किस कर्म से होता है ?

(उ०) जब तक मनुष्य सर्वान्तर्यामी, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक, सर्वकर्मों के साक्षी परमात्मा से नहीं डरते, अर्थात् कोई कर्म ऐसा नहीं है जिस को वह न जानता हो। सत्यविद्या, सुशिक्षा, सत्पुरुषों का संग, उद्योग, जितेन्द्रियता, ब्रह्मचर्य आदि शुभ गुणों के होने, और लाभ के अनुसार व्यय करने से धर्मात्मा होता है। और जो इससे विपरीत है, वह धर्मात्मा कभी नहीं हो सकता।

क्योंकि जो राजा आदि अल्पज्ञ मनुष्यों से डरता, और परमेश्वर से भय नहीं करता, वह क्योंकर धर्मात्मा हो सकता है ? क्योंकि राजा आदि के सामने बाहर की अधर्मयुक्त चेष्टा करने में तो भय होता है, परन्तु आत्मा और मन से बुरी चेष्टा करने में कुछ भी भय नहीं होता। क्योंकि ये भीतर का कर्म नहीं जान सकते। इससे आत्मा और मन का नियम करने हारा राजा एक आत्मा और दूसरा परमेश्वर ही है, मनुष्य नहीं। और वे जहाँ एकान्त में राजादि मनुष्यों को नहीं देखते, वहाँ तो बाहर से भी चोरी आदि दुष्ट कर्म करने में कुछ भी शंका नहीं करते।

दृष्टान्त– जैसे एक धार्मिक विद्वान् के पास पढ़ने के लिये दो नवीन विद्यार्थियों ने आके कहा कि आप हमको पढ़ाइये। (**विद्वान्**) अच्छा हम तुमको पढ़ावेंगे। परन्तु जो हम कहें, सो एक काम तुम दोनों जने कर लाओ। इस एक-एक लड़के को एकान्त में ले जाके, जहाँ कोई भी न देखता हो, वहाँ इसका कान पकड़कर दो-चार बार शीघ्र उठा-बैठा के धीरे से एक चपेटिका मार देना। दोनों-दोनों को लेके चले। एक ने तो चारों ओर देखा कि यहाँ कोई नहीं देखता। उक्त काम करके झट चला आया। दूसरा पण्डित के वचन के अभिप्राय को विचारने लगा कि– 'मुझको लड़का और मैं लड़के को भी देखता हूँ, फिर वह काम कैसे कर सकता हूँ' ? पण्डित के पास आया।

तब जो प्रथम आया था, उससे पण्डित ने पूछा कि– 'जो हमने कहा था सो तू कर आया' ? उसने कहा– हाँ। दूसरे को पूछा कि– 'तू भी कर आया वा नहीं' ? उसने कहा– 'नहीं, क्योंकि आपने मुझको ऐसा कहा था कि जहाँ कोई न देखता हो, वहाँ यह काम करना। सो ऐसा स्थान मुझको कहीं भी नहीं मिल सकता। प्रथम मैं इस लड़के को

और लड़का मुझको देखता ही था'। पण्डित ने कहा कि– 'तू बुद्धिमान् और धार्मिक है, मुझसे पढ़'। दूसरे से कहा कि– 'तू पढ़ने के योग्य नहीं है, यहाँ से चला जा'।

वैसे ही क्या कोई भी स्थान वा कर्म है कि जिसको आत्मा और परमात्मा न देखता हो ? जो मनुष्य इस प्रकार आत्मा और परमात्मा की साक्षी से अनुकूल कर्म करते हैं वें ही **'धर्मात्मा'** कहाते हैं।

(प्र०) सब मनुष्यों को विद्वान् वा धर्मात्मा होने का सम्भव है वा नहीं ?

(उ०) विद्वान् होने का तो सम्भव नहीं, परन्तु जो धर्मात्मा हुआ चाहें, तो सभी हो सकते हैं। अविद्वान् लोग दूसरों को धर्म का निश्चय नहीं करा सकते। और विद्वान् लोग धार्मिक होकर अनेक मनुष्यों को भी धार्मिक कर सकते हैं ? और कोई धूर्त्त मनुष्य अविद्वान् को बहका के अधर्म में प्रवृत्त कर सकता है, परन्तु विद्वान् को अधर्म में कभी नहीं चला सकता। क्योंकि जैसे देखता हुआ मनुष्य कुएं में कभी नहीं गिरता, परन्तु अन्धे को तो गिरने का सम्भव है, वैसे विद्वान् सत्यासत्य को जानके उसमें निश्चय रह सकते, और अविद्वान् ठीक-ठीक स्थिर नहीं रह सकते।

[मूर्ख राजा का दृष्टान्त]

दृष्टान्त– जैसे एक कोई अविद्वान् राजा था। उसके राज्य में किसी ग्राम में कोई मूर्ख भिक्षुक ब्राह्मण था। उसकी स्त्री ने कहा कि आजकल भोजन भी नहीं मिलता, बहुत कष्ट है। तुम पहिले दानाध्यक्ष के पास जाना। वह राजा के पास ले जाके कुछ जप-अनुष्ठान लगवा देगा। उसने वैसा ही किया। जब उसने दानाध्यक्ष के पास जाके अपना

हाल कहा कि आप मेरी कुछ जीविका कर दीजिये। (**दानाध्यक्ष**) मुझको क्या देगा ? (**अर्थी**) जो तुम कहो। (**दानाध्यक्ष**) 'अर्धमर्धं स्वाहा' ? [(**अर्थी**)] महाराज ! मैं नहीं समझा, तुमने क्या कहा ? (**दानाध्यक्ष**) जो तू आधा हमको दे और आधा तू ले, तो तेरी जीविका लगा दें। (**स्वार्थी**) जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो। (**दानाध्यक्ष**) अच्छा चल राजा के पास। (**स्वार्थी**) चलो।

खुशामदियों से सभा भरी थी। वहाँ दोनों पहुँचे। दानाध्यक्ष ने कहा कि यह गो-ब्राह्मण है। इसकी कुछ जीविका कर दीजिये। यह आपका जप-अनुष्ठान किया करेगा। (**राजा**) अच्छा, जो आप कहें। (**दानाध्यक्ष**) दश रुपये मासिक होने चाहियें। (**राजा**) अच्छा-अच्छा। (**दानाध्यक्ष**) छह महीने का प्रथम मिलना चाहिये। (**राजा**) अच्छा कोषाध्यक्ष ! इसको छह महीने का जोड़कर दें दो। (**कोषाध्यक्ष**) जो आज्ञा।

जब स्वार्थी रुपया लेने को गया, तब **कोषाध्यक्ष** बोले- मुझको क्या देगा ? (**स्वार्थी**) आप भी एक-दो ले लीजिये। (**कोषाध्यक्ष**) छी-छी ! दश रुपये से कम नहीं लेंगे, नहीं तो आज रुपये नहीं मिलेंगे फिर आना। जब तक दानाध्यक्ष ने एक नौकर भेज दिया कि उसको हमारे पास ले आओ तब तक कोषाध्यक्ष जी ने भी दश रुपये उड़ा लिये।

पचास रुपये लेके चला। मार्ग में (**नौकर**) कुछ मुझको भी दे। (**स्वार्थी**) अच्छा भाई, तू भी एक रुपया ले ले। (**नौकर**) लाओ, जब दरवाजे पर आया, तब सिपाहियों ने रोका। कौन ? तुम क्या ले जाते हो? (**नौकर**) मैं दानाध्यक्ष का नौकर हूँ। (**सिपाही**) यह कौन है ?

(नौकर) जपानुष्ठानी। **(सिपाही)** कुछ मिला ? **(नौकर)** यही जाने। **(सिपाही)** कहो भाई क्या मिला ? **(स्वार्थी)** जितना तुम लोगों से बचकर घर पहुँचे सो ही मिला। **(सिपाही)** हमको भी कुछ देता जा। **(स्वार्थी)** लो आठ आने। **(सिपाही)** लाओ।

जब तक दानाध्यक्ष घबराया कि वह भाग तो नहीं गया ? दूसरे नौकर से बोला कि देखो वह कहाँ गया ? तब तक वह स्वार्थी आदि आ पहुँचे। **(दानाध्यक्ष)** लाओ, रुपये कहाँ हैं ? **(स्वार्थी)** ये हैं अड़तालीस। **(दानाध्यक्ष)** वाह-वाह बारह रुपये कहाँ गये ? स्वार्थी ने जैसा हुआ था, वैसा कह दिया। **(दानाध्यक्ष)** अच्छा तो चार मेरे गये, और आठ तेरे। **(स्वार्थी)** अच्छा, जैसी आपकी इच्छा हो। तब छब्बीस लिये दानाध्यक्ष ने, और बाईस स्वार्थी ने लेके कहा कि– 'मैं घर हो आऊँ, कल आ जाऊँगा'।

वह दूसरे दिन आया। उससे दानाध्यक्ष ने कहा कि– तू गंगाजी पर जाकर राजा का जप कर। और ले यह धोती, अंगोछा, पञ्चपात्र, माला और गोमुखी। वह लेके गंगा पर गया। वहाँ स्नान कर माला लेके जप करने बैठा। विचारा कि जो दानाध्यक्ष ने कहा था वही मन्त्र है। ऐसा वह मूर्ख समझ गया। **'सरक माला खटक मणका, मैं राजा का जप करूँ, मैं राजा का जप करूँ, मैं राजा का जप करूँ'** जपने लगा।

तब किसी दूसरे मूर्ख ने विचारा कि जब उसका लग गया है, तो मेरा भी लग जायेगा, चलो। वह गया, वैसा ही हुआ। चलते समय दानाध्यक्ष बोले कि तू जा, जैसा वह करता है, वैसा करना। वह गया, वैसे ही आसन पर बैठकर पढ़ने वाले का मन्त्र सुनकर जपने लगा कि– **'तू करे सो मैं करूँ, तू करे सो मैं करूँ'**।

वैसे ही तीसरा कोई धूर्त जाके सब कुछ कर करा लाया। चलते समय दानाध्यक्ष ने कहा कि– 'जब तक निर्वाह होता दीखे, तब तक करना'। वह भी इसी अभिप्राय को मन्त्र समझके वहाँ जाकर जप करने को बैठके जपने लगा कि– **'ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कब तक'।**

वैसे ही चौथा कोई मूर्ख सब प्रबन्ध कर-करा के गंगा पर जाने लगा तब दानाध्यक्ष ने कहा कि– 'जब तक निभे तब तक निर्वाह करना'। वह भी इसको ही मन्त्र समझके गंगा पर जाके जप करने को बैठके उन तीनों का मन्त्र सुना। तो कहता है– **'मैं राजा का जप करूँ, मैं राजा का जप करूँ, मैं राजा का जप करूँ'।** दूसरा– **'तू करे सो मैं करूँ, तू करे सो मैं करूँ, तू करे सो मैं करूँ'।** तीसरा– **'ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कब तक'।** और चौथा जपने लगा कि– **'जब तक निभे तब तक, जब तक निभे तब तक, जब तक निभे तब तक'।**

ध्यान रक्खो कि सब अधर्मी और स्वार्थी लोगों की लीला ऐसी ही हुआ क़रती है कि अपने मतलब के लिये अनेक अन्यायरूप कर्म करके अन्य मनुष्यों को ठग लेते हैं। अभाग्य है ऐसे मनुष्यों का कि जिनके आत्मा अविद्या और अधर्मान्धकार में गिरके कदापि सुख को प्राप्त नहीं होते।

[धार्मिक विद्वान् राजा का दृष्टान्त]

यहाँ किसी एक धार्मिक राजा का दृष्टान्त सुनो। कोई एक विद्वान् धर्मात्मा राजा था। उसके दानाध्यक्ष के पास किसी धूर्त ने जाकर कहा कि मेरी जीविका करा दो। (दानाध्यक्ष) तुमने कौन-कौन शास्त्र पढ़ा,

और क्या-क्या काम करते हो ? (अर्थी) मैं कुछ भी न पढ़ा, और बीस वर्ष तक खेलता-कूदता, गाय-भैंसे चराता, खेतों में डोलता और माता-पिता के सामने आनन्द करता था। अब सब घर का बोझ [मुझ पर] पड़ गया है। आपके पास आया हूँ, कुछ करा दीजिये।

(दानाध्यक्ष) नौकरी-चाकरी करो तो करा देंगे। (अर्थी) मैं ब्राह्मण साधु जहाँ-तहाँ बाजारों में उपदेश करने वाला हूँ। मुझ से ऐसा परिश्रम कहाँ बन सकता है ? (दानाध्यक्ष) तू विद्या के विना ब्राह्मण, परोपकार के विना साधु, और विज्ञान के विना उपदेश कैसे कर सकता होगा ? इसलिये नौकरी-चाकरी करना हो तो कर, नहीं तो चला जा।

वह मूर्ख वहाँ से निराश होकर चला कि यहाँ मेरी दाल न गलेगी, चलो राजा से कहें। जब राजा के पास आके वैसे ही कहा, तब राजा ने वैसा ही जवाब दिया कि– जैसा दानाध्यक्ष जी ने कहा है, वैसा करना हो तो कर, नहीं चला जा। वह वहाँ से चला गया।

इसके पश्चात् एक योग्य विद्वान् ने आके दानाध्यक्ष से मिलके बातचीत की, तो दानाध्यक्ष ने समझ लिया कि यह बहुत अच्छा सुपात्र विद्वान् है। जाके राजा से मिलके कहा– 'पण्डित जी से आप भी कुछ बातचीत कीजिये।' वैसा ही किया। तब राजा ने परीक्षा कर के जाना कि यह अतिश्रेष्ठ विद्वान् है। ऐसा जानकर उससे कहा कि आपको हजार रुपये मासिक मिलेगा। आप सदा हमारी पाठशाला में विद्यार्थियों को पढ़ाया और धर्मोपदेश किया कीजिये। वैसा ही हुआ।

धन्य ऐसे राजा और दानाध्यक्षादि हैं कि जिनके हृदय में विद्या परमात्मा और धर्मरूप सूर्य प्रकाशित होता है।

(प्र०) 'दानाभक्ष' और 'दानाध्यक्ष' किसको कहते हैं ?

(उ०) जो दाता के दान का भक्षण करके अपना स्वार्थ सिद्ध करता जाय, वह **'दानाभक्ष'**। और जो दाता के दान को सुपात्र विद्वानों को देकर उनसे विद्या और धर्म की उन्नति कराता जाय, वह **'दानाध्यक्ष'** कहाता है।

(प्र०) **'राजा'** किसको कहते हैं ?

(उ०) जो विद्या, न्याय, जितेन्द्रियता, शौर्य, धैर्य आदि गुणों से युक्त होकर, अपने पुत्र के समान प्रजा के पालन में श्रेष्ठों की यथायोग्य रक्षा, और दुष्टों को दण्ड देकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति से युक्त होकर, अपनी प्रजा को कराकर आनन्दित रहता और सब को सुख युक्त कराता है, वह **'राजा'** कहाता है।

(प्र०) **'प्रजा'** किसको कहते हैं ?

(उ०) जैसे पुत्रादि तन-मन-धन से अपने माता-पिता की सेवा करके उनको सर्वदा प्रसन्न रखते हैं, वैसे जो प्रजा अनेक प्रकार के धर्मयुक्त व्यवहारों से पदार्थों को सिद्ध करके राजसभा को कर देकर उनको सदा प्रसन्न रक्खे, वह **'प्रजा'** कहाती है।

और जो अपना हित और प्रजा का अहित करना चाहे वह न राजा और जो अपना हित और राजा का अहित [करना] चाहे, वह प्रजा भी नहीं है। किन्तु उनको एक-दूसरे का शत्रु, डाकू, चोर समझना चाहिये। क्योंकि दोनों धार्मिक होके एक-दूसरे का हित करने में नित्य प्रवर्त्तमान हों, तभी राजा और प्रजा संज्ञा होती है, विपरीत की नहीं। जैसे-

[अन्धेर नगरी और गवर्गण्ड राजा का दृष्टान्त]

अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा।

टके सेर भाजी टके सेर खाजा॥

एक बड़ा धार्मिक विद्वान् सभाध्यक्ष राजा यथावत् राजनीति से युक्त होकर प्रजापालनादि उचित समय में ठीक-ठीक करता था। उसकी नगरी का नाम **'प्रकाशवती'**, राजा का नाम **'धर्मपाल'** और व्यवस्था का नाम **'यथायोग्य करने हारी'** था। वह तो मर गया। पश्चात् उसका लड़का, जो महा अधर्मी मूर्ख था, उसने गद्दी पर बैठके सभा से कहा कि– 'जो मेरी आज्ञा माने, वह मेरे पास रहे। और जो न माने, वह यहाँ से निकल जाये।' तब बड़े-बड़े सभासद् बोले कि– 'जैसे आपके पिता सभा की सम्मति के अनुकूल वर्त्तते थे, वैसा आपको भी वर्त्तना चाहिये'।

(राजा) उनका काम उनके साथ गया। अब मेरी जैसी इच्छा होगी, वैसा करूँगा। **(सभा)** जो आप सभा का कहा न करेंगे, तो राज्य का नाश, अथवा आपका ही नाश हो जावेगा। **(राजा)** मेरा नाश तो जब होगा, तब होगा, परन्तु तुम यहाँ से चले जाओ। नहीं तो तुम्हारा नाश तो मैं अभी कर दूँगा। सभासदों ने कहा कि– **"विनाशकाले विपरीतबुद्धिः"**= जिसका शीघ्र नाश होना होता है, उसकी बुद्धि पहले से ही विपरीत हो जाती है। चलिये, यहाँ अपना निर्वाह न होगा। वे चले गये, और महामूर्ख, धूर्त्त, खुशामदी लोगों की मण्डली उसके साथ हो गई।

राजा ने कहा कि– 'आज से मेरा नाम **'गवर्गण्ड'**, नगरी का नाम **'अन्धेर'**। और जो-जो मेरे पिता और सभा करती थी, उससे सब काम मैं उलटा ही करूँगा। जैसे मेरे पिता और सभासद् रात में सोते और दिन में राज्यकार्य करते थे, वैसे ही उससे विपरीत हम लोग दिन में

सोवेंगें, और रात में राज्यकार्य करेंगे। उनके सामने उनके राज्य में सब चीजें अपने- अपने भाव पर बिकती थीं। हमारे राज्य में केशर, कस्तूरी से लेकर मिट्टी पर्यन्त सब चीज एक टके सेर बिकेंगी।'

जब ऐसी प्रसिद्धि देश-देशान्तरों में हुई, तब किसी स्थान में दो गुरु-शिष्य वैरागी अखाड़ों में मल्लविद्या करते, पाँच-पाँच सेर खाते और बड़े मोटे थे। चेले ने गुरु से कहा कि– 'चलिये अन्धेर नगरी में। वहाँ दश (१०) टकों में दश सेर मलाई आदि माल चावके खूब तैयार होंगे।' गुरु ने कहा कि– 'वहाँ गवर्गण्ड के राज्य में कभी न जाना चाहिये। क्योंकि किसी दिन खाया-पिया सारा निकल जावेगा, वरन् प्राण भी बचाना कठिन होगा।' फिर जब चेले ने हठ किया, तब गुरु भी मोह के साथ चला गया। वहाँ जाके अन्धेर नगरी के समीप बगीचे में निवास किया, और खूब माल चाबते और कुश्ती किया करते थे।

इतने में कभी एक आधी रात में किसी साहूकार का नौकर एक हजार रुपयों की थैली लेके किसी साहूकार की दुकान पर जमा करने को जाता था। बीच में उचक्के आकर रुपयों की थैली छीनकर भागे। उसने जब पुकारा, तब थाने के सिपाहियों ने आकर पूछा कि क्या है? उसने कहा कि– 'अभी उचक्के मुझसे रुपयों को छीनकर लिये जाते हैं'। सिपाही धीरे-धीरे चलके किसी भले आदमी को पकड़ लाये कि तू ही चोर है। उसने उनसे कहा कि– मैं फलाने साहूकार का नौकर हूँ, चलो पूछ लो। (**सिपाही**) हम नहीं पूछते, चल राजा के पास। पकड़ कर राजा के पास ले जाकर कहा कि–'इसने हजार रुपयों की थैली चोर ली है'। गवर्गण्ड और आस-पास वालों में से किसी ने कुछ पूछा न गाछा। वह बेचारा पुकारता ही रहा कि मैं उस साहूकार का नौकर हूँ,

परन्तु किसी ने न सुना। झट हुक्म चढ़ा दिया कि इसको शूली पर चढ़ा दो।

शूली लोहे की बरछी और सरों से वृक्ष के समान अणीदार होती है। उस पर मनुष्य को चढ़ा, उलटा कर नाभि में उस को अणी लगा देने से पार निकल जाने पर वह कुछ विलम्ब से मर जाता है। गवर्गण्ड के नौकर भी उसके सदृश क्यों न हों ? क्योंकि **"समान[शील]व्यसनेषु मैत्री"**= जिनका स्वभाव एकसा होता है, उन्हीं की परस्पर मित्रता भी होती है। जैसे धर्मात्माओं की धर्मात्माओं, पण्डितों की पण्डितों, दुष्टों और व्यभिचारियों की [दुष्टों और] व्यभिचारियों के साथ मित्रता होती है। न कभी धर्मात्मादि का अधर्मात्मादि, और न अधर्मात्माओं का धर्मात्माओं के साथ मेल हो सकता है।

गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि– 'शूली तो [है] मोटी, और मनुष्य है पतला, अब क्या करना चाहिये ?' तब राजा के पास जाके सब बात कही। उस पर गवर्गण्ड ने हुक्म दिया कि– 'अच्छा, तो इसको छोड़ दो, और जो कोई शूली के सदृश मोटा हो, उसको पकड़ के इसके बदले चढ़ा दो' तब गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि शूली के सदृश खोजो। तब किसी ने कहा कि इस शूली के सदृश तो बगीचे वाले गुरु-चेला दोनों वैरागी ही हैं। सब बोले कि– ठीक-ठीक तो उसका चेला ही है।

जब बहुत से सिपाहियों ने बगीचे में जाके उसके चेले से कहा कि तुझको राजा का हुक्म है कि– शूली पर चढ़ने के लिये चल। तब तो यह घबरा के बोला कि– 'हमने तो कोई अपराध नहीं किया'। **(सिपाही)** अपराध तो नहीं किया, परन्तु तू ही शूली के समतुल्य है,

हम क्या करें ? (**साधु**) क्या दूसरा कोई नहीं है ? (**सिपाही**) नहीं। बहुत बर-बर मत कर, चल महाराज का हुक्म है।

तब चेला गुरु से बोला कि– 'महाराज ! अब क्या करना चाहिये ?' (**गुरु**) हमने तो तुझसे प्रथम ही कहा था कि अन्धेर नगरी गवर्गण्ड के राज्य में मुफ्त के माल चाबने को मत चलो। तूने नहीं माना, अब हम क्या करें, जैसा हो वैसा भोग। देख अब सब खाया-पिया निकल जावेगा। (**चेला**) अब किसी प्रकार बचाओ, तो यहाँ से दूसरे राज्य में चले जावें। (**गुरु**) एक युक्ति है बचने की, सो करो तो बचने का सम्भव है। शूली पर चढ़ते समय तू मुझको हटाना, मैं तुझको हटाऊँगा। इस प्रकार परस्पर लड़ने से कुछ बचने का उपाय निकल आवेगा। (**चेला**) अच्छा तो चलिये। सब बातें दूसरे देश की भाषा में कीं, इसमें सिपाही कुछ भी न समझे। सिपाहियों ने कहा कि– 'चलो देर मत लगाओ नहीं तो बांध के ले जायेंगे।' साधुओं ने कहा कि हम प्रसन्नता पूर्वक चलते हैं, तुम क्यों बांधो ? (**सिपाही**) अच्छा तो चलो।

जब शूली के पास पहुँचे तब दोनों लंगोट बांधके मिट्टी लगाके खूब लड़ने लगे। गुरु ने कहा कि शूली पर मैं ही चढूँगा। (**चेला**) चेला का धर्म नहीं कि मेरे रहते गुरु शूली पर चढ़े। (**गुरु**) मेरा भी धर्म नहीं कि मेरे सामने चेला शूली पर चढ़ जाये। हाँ, मुझको मारकर पीछे भले ही शूली पर चढ़ जाना। क्यों बकता है, चुप रह। समय चला जाता है। ऐसा कहकर शूली पर चढ़ने लगा तब चेले ने गुरु को पकड़ कर धक्का देकर अलग किया [और] आप चढ़ने लगा। फिर गुरु ने भी वैसा ही किया तब तो गवर्गण्ड के सिपाही कामदार सब तमाशा देखते थे। उन्होंने कहा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिये क्यों लड़ते हो

? तब दोनों साधु बोले कि– 'हमसे इस बात को मत पूछो, चढ़ने दो। क्योंकि हमको ऐसा समय मिलना दुर्लभ है'।

यह बात तो यहाँ ऐसे ही होती रही, और गवर्गण्ड के पास खुशामदियों की सभा भरी हुई थी। आप वहाँ से उठकर और भोजन करके सिंहासन पर बैठकर सब से बोला कि– 'बैंगन का शाक अत्युत्तम होता है'। सुनकर खुशामदी लोग बोले कि– 'धन्य है महाराज की बुद्धि को, बैंगन के शाक को चाखते ही शीघ्र उसकी परीक्षा कर ली। सुनिये महाराज ! जब बैंगन अच्छा है, तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर मुकुट, चारों ओर कलगी, ऊपर का वर्ण घनश्याम, भीतर का वर्ण मक्खन के समान बनाया है'। ऐसा सुनकर गवर्गण्ड और सब सभा के लोग अतिप्रसन्न होकर हंसे।

जब गवर्गण्ड अपने महलों में सोने को गया, डौढ़ी बन्द हुई। तब खुशामदी लोगों ने चौकी पहरे वालों से कहा कि– 'जब तक प्रातःकाल हम न आवें, तब तक किसी का मिलाप महाराज के साथ मत होने देना'। उसने कहा कि अच्छा। आज के दिन कुछ गहरी प्राप्ति नहीं हुई? (**खुशामदी**) आज नहीं हुई तो कल हो जावेगी, हमारा और तुम्हारा तो साझा ही है। जो कुछ खजाने और प्रजा से निकालकर अपने घर में पहुँचे, वही अपना है। जब राजा को नशा और रण्डीबाजी आदि खेल में सब लोग मिलकर लगा देंगे, तभी अपना गहरा होगा। खजाना अपना ही है। और सब आपस में मिले रहो, फूटना न चाहिये। सब ने कहा– 'हाँ जी हाँ, यही ठीक है'।

वे तो चले गये। जब गवर्गण्ड सोने को गया, तब गर्म मसाले पड़े हुये बैंगन के शाक ने गर्मी की, और जंगल की हाजत हुई। ले लोटा

जाजरूर में गया, रात भर खूब जुलाब लगा। रात्रि में कोई ३० तीस दस्त हुये। रात्रिभर नींद न आई, बड़ा व्याकुल रहा। उसी समय वैद्यों को बुलाया। वे भी गवर्गण्ड के सदृश ही थे। ऊटपटांग ओषधियाँ दीं, उन्होंने और भी बिगाड़ किया क्योंकि गवर्गण्ड के पास बुद्धिमान् क्योंकर ठहर सकते हैं ? जब प्रात:काल हुआ, तब खुशामदियों की मण्डली ने सभा का स्थान घेर के दासियों से पूछा कि– 'महाराज क्या करते हैं' ? (**दासी**) आज रातभर जुलाब लगा, और व्याकुल रहे। (**खुशामदी**) क्या कोई रात्रि में महाराज के पास आया भी था ? (**दासी**) दस-बारह जने आये थे। (**खुशामदी**) कौन-कौन आये थे, उनके नाम भी जानती हो ? (**दासी**) हाँ तीन के नाम जानती हूँ, अन्य के नहीं।

तब तो खुशामदी लोग विचारने लगे कि किसी ने अपनी निन्दा तो न कर दी हो। इसलिये आज से हम में से एक-दो पुरुषों को रात में भी डोढ़ी में अवश्य रहना चाहिये। सब ने कहा बहुत ठीक है। इतने में आठ बजे के समय मुखमलीन गवर्गण्ड आकर गद्दी पर बैठा। तब खुशामदियों ने भी उससे सौ गुणा मुख बिगाड़ कर शोकाकृतिमुख होकर ऊपर से झूठ-मूठ अपनी चेष्टा जनाई। (**ग़वर्गण्ड**) बैंगन का शाक खाने में तो स्वादु होता है, परन्तु बादी करता है। उससे हमको बहुत दस्त लगने से रात्रिभर दु:ख हुआ। (**खुशामदी**) वाह जी वाह महाराज ! आपके सदृश न कोई राजा हुआ और न होगा, और न कोई इस समय है। क्योंकि महाराज ने खाते समय तो उसके गुणों की परीक्षा की, और रात्रिभर में दोष भी जान लिये। देखिये महाराज ! जब बैंगन दुष्ट है, तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर खूंटी, चारों ओर कांटे लगा दिये। ऊपर का वर्ण कोयलों के समान, और भीतर का रंग कोढ़ी की

चमड़ी के सदृश किया है।

(गवर्गण्ड) क्यों जी ! कल रात को तो तुमने इसकी प्रशंसा में मुकुट आदि का अलंकार, और इस समय इसकी निन्दा में खूंटी आदि की उपमा देते हो ? अब हम किसको सच्ची मानें ? **(खुशामदी)** घबरा के बोले कि– 'धन्य-धन्य-धन्य है आपकी विशाल बुद्धि को, क्योंकि कल सन्ध्या की बात अब तक भी नहीं भूले। सुनिये महाराज! हमको साले बैंगन से क्या लेना-देना था। हमको तो आपकी प्रसन्नता में प्रसन्नता और अप्रसन्नता में अप्रसन्नता है। जो आप रात को दिन और दिन को रात, सत्य को झूठ और झूठ को सत्य कहें सो सभी ठीक है'। **(गवर्गण्ड)** हाँ-हाँ, नौकरों का यही धर्म है कि कभी स्वामी की किसी बात में प्रत्युत्तर न दें, किन्तु हाँजी-हाँजी ही करते जायें।

(खुशामदी) ठीक है, राजाओं का यही धर्म है कि किसी बात की चिन्ता कभी न करें। रात-दिन अपने सुख में मग्न रहें। नौकरों-चाकरों पर सदा विश्वास करके सब काम उनके आधीन रक्खें। बनिये बक्काल के समान हिसाब-किताब कभी न देखें। जो कुछ सुपेद का काला और काले का सुपेद करें, तो ही ठीक रक्खें। जिस दरख्त को लगावें, उसको कभी न काटें। जिसको ग्रहण किया, उसको कभी न छोड़ें, चाहे कितना ही अपराध करे। क्योंकि जब राजा होके भी किसी काम पर ध्यान देकर आप अपने आत्मा, मन और शरीर से परिश्रम किया, तो जानो उनका कर्म फूट गया। और जब हिसाब आदि में दृष्टि की, तो वह महादरिद्र है, राजा नहीं।

(गवर्गण्ड) क्यों जी ! कोई मेरे तुल्य राजा और तुम्हारे सदृश सभासद् कभी हुये होंगे, और आगे कोई होंगे वा नहीं ? **(खुशामदी)**

नहीं, कदापि नहीं। न हुआ, न होगा और न है। (**गवर्गण्ड**) सत्य है। क्या ईश्वर भी हमसे अधिक उत्तम होगा ? (**खुशामदी**) कभी नहीं हो सकता। क्योंकि उसको किसने देखा है ? आप तो साक्षात् परमेश्वर हैं। क्योंकि आपकी कृपा से दरिद्र का धनाढ्य, अयोग्य का योग्य और अकृपा से धनाढ्य का दरिद्र, योग्य का अयोग्य तत्काल ही हो सकता है।

इतने में नियत किये प्रातःकाल को सायंकाल मानकर सोने को सब लोग गये। जब सायंकाल हुआ तब फिर सभा लगी। इतने में सिपाहियों ने आकर साधुओं के झगड़े की बात कही। सुनकर गवर्गण्ड ने सभा सहित वहाँ जाके साधुओं से पूछा कि– 'तुम शूली पर चढ़ने के लिये क्यों सुख मानते हो' ? (**साधु**) तुम हमसे मत पूछो, चढ़ने दो, समय चला जाता है। ऐसा समय हमें बड़े भाग्य से मिला है। (**गवर्गण्ड**) इस समय शूली पर चढ़ने से क्या फल होगा ? (**साधु**) हम नहीं कहते, जो चढ़ेगा वह फल देख लेगा। हमको चढ़ने दो। (**गवर्गण्ड**) नहीं-नहीं। जो फल होता हो, सो कहो। सिपाहियों ! इनको इधर पकड़ लाओ। [वे] पकड़ लाये।

(**साधु**) हमको क्यों नहीं चढ़ने देते ? झगड़ा क्यों करते हो ? (**गवर्गण्ड**) जब तक तुम इसका फल न कहोगे, तब तक हम कभी न चढ़ने देंगे। (**साधु**) दूसरे को कहने की तो बात नहीं है, परन्तु तुम हठ करते हो, तो सुनो– 'जो कोई मनुष्य इस समय में शूली पर चढ़कर प्राण छोड़ देगा, वह चतुर्भुज होकर विमान में बैठके आनन्दरूप स्वर्ग को प्राप्त होगा।' (**गवर्गण्ड**) अहो ऐसी बात है, तो मैं ही चढ़ता हूँ, तुझको न चढ़ने दूँगा। ऐसा कहकर झट आप ही शूली पर चढ़कर प्राण

छोड़ दिये। साधु अपने आसन पर आये। चेले ने कहा कि– 'महाराज! चलिये, यहाँ अब न रहना चाहिये'। गुरु ने कहा कि– 'अब कुछ चिन्ता नहीं। जो पाप की जड़ गवर्गण्ड था, वह तो मर गया। अब धर्मराज्य होगा। क्या चिन्ता है, यहीं रहो'।

उसी समय उसका छोटा भाई विद्वान्, पिता के सदृश धार्मिक और जो उसके पिता के समान धार्मिक सभासद् और प्रजा में से सत्पुरुष, जो कि उसके पिता के मरने के पश्चात् गवर्गण्ड ने निकाल दिये थे, वे सब आके सुनीति नामक छोटे भाई को राज्याधिकारी करके उसके मुर्दे को शूली पर से उतार करके जला दिया। और खुशामदियों की मण्डली को अत्युग्र दण्ड देके कुछ कैद कर दिये, और बहुतों को नौका में बैठाकर किसी समुद्र के बीच निर्जन द्वीपान्तर में बन्दीखाने में डालकर, अत्युत्तम विद्वान् धार्मिकों की सम्मति से श्रेष्ठों का पालन, दुष्टों का ताड़न, विद्या-विज्ञान और सत्य-धर्म की वृद्धि आदि उत्तम कर्म करके पुरुषार्थ से यथायोग्य राज्य की व्यवस्था चलाने लगे। और पुनः प्रकाशवती नगरी [में 'यथायोग्य करने हारी'] नाम की व्यवस्था चलाने लगे। और पुनः नगरी का प्रकाशवती नाम प्रकाश हुआ, और उचित समय पर सब उत्तम काम होने लगे।

जब जिस देशस्थ प्राणियों का अभाग्य उदय होता है, तब गवर्गण्ड के सदृश स्वार्थी, अधर्मी, प्रजा का नाश करने हारा राजा, धनाढ्य और खुशामदियों की सभा, और उनके समतुल्य अधर्मी उपद्रवी राजद्रोही प्रजा भी होती है। और जब जिस देशस्थ प्राणियों का सौभाग्य उदय होने वाला होता है, तब सुनीति के समान धार्मिक, विद्वान् [राजा] पुत्रवत् प्रजा का पालन करने वाली राजसहित सभा और

धार्मिक, पुरुषार्थी पिता के समान राजप्रबन्ध, प्रीतियुक्त मंगलकारिणी प्रजा होती है।

जहाँ अभाग्योदय, वहाँ विपरीत-बुद्धि मनुष्य परस्पर द्रोहादि स्वरूप धर्म से विपरीत दुःख के ही काम करते जाते हैं। और जहाँ सौभाग्योदय, वहाँ परस्पर उपकार, प्रीति, विद्या, सत्य, धर्म आदि उत्तम कार्य अधर्म से अलग होकर करते हैं, वे सदा आनन्द को प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो, पूर्वोक्त दुष्ट व्यवहारों को छोड़कर धार्मिक होके खाने-पीने, बोलने-सुनने, बैठने-उठने, लेने-देने आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है, वह कहीं कभी दुःख को प्राप्त नहीं होता। और जो सम्पूर्ण विद्या पढ़के, पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड़ के दुष्ट कर्मों को करता है, वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि आप अपने लड़के-लड़की, इष्ट-मित्र, अड़ोसी-पड़ोसी और स्वामी-भृत्य आदि को विद्या और सुशिक्षा से युक्त करके सर्वथा आनन्द करते रहें।।

इति श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीनिर्मितो
व्यवहारभानुः समाप्तः।।